

९

आदर्श उपाय
सुझाव

शिव को जगाओ रे शिव के उपासको!

श्रीमद् भगवद् गीता में लिखा है—

या निशा सर्वभूतानाम् तस्याम् जागर्ति संयमी।

यस्याम् जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

सर्व साधारण के लिये जो रात सोने के लिये होती है, संयमी लोग उस रात में जागते हैं। और सर्वसाधारण जब जागते हैं, तब दूर तक देखने वाले ऋषि और मुनि विश्राम करते हैं।

गीता का उक्त श्लोक टंकारा में डेमी नदी के तट पर स्थित शिव मन्दिर में शिव—रात्रि वाले दिन उस बालक मूलशंकर पर पूर्णतया चरितार्थ होता है, जो अन्य शिव-भक्तों के सो जाने पर भी अकेला आधी रात में जाग रहा था। १४ वर्ष की आयु के उस किशोर के मन में कितनी उत्सुकता थी शिव के दर्शन की, कैसी-कैसी विचित्र कल्पनाएं और उद्भावनाएं उस आयु के बालक के मन में हिलारें ले रही होंगी, जो आयु न मुग्ध शैशव की है और न उद्दाम तरुणायी की। परन्तु उस आयु में मन में उठे तर्क-वितर्क और उनके पश्चात् निष्कर्ष रूप में गृहीत कोई संकल्प किस प्रकार मनुष्य को आपाद-मस्तिष्क झकझोर डालता है। इसका उदाहरण है। उस बालक का भावी जीवन बालक मूल शंकर दयाल जी के बचपन के नाम की सीमा को पार करते हुए बाल ब्रह्मचारी अद्भुत दयानन्द बना, और उसके बाद ज्ञानियों और योगियों की खोज करते हुए संसार से विरक्त होकर संन्यासी बना, और संन्यासी बनने के पश्चात् जिस प्रकार पुनः पूरे वेग और आवेग के साथ जीवन—संग्राम में कूद पड़ा, वह कठोर कर्म—संकुल जीवन शायद उस, किशोरावस्था के संकल्प के बिना अपरिभाषित ही रह जाए। जिस संकल्प की पूर्ति के लिये मनुष्य अपने सारे जीवन को दांव पर न लगा दे, वह संकल्प ही क्या हुआ? ऋषि दयानन्द का सारा जीवन जैसे उस शिवरात्रि के दिन मन में अंकुरित दृढ़ संकल्प के बट-वृक्ष की तरह ही उस संकल्प की व्याख्या के रूप में इतिहास में विराजमान है।

ऋषि दयानन्द को वेदोद्धारक, समाज सुधारक, राष्ट्रोदय की ज्वाला जगाने वाला और स्त्री-जाति और दलितों के मसीहा के रूप में न जाने कितने रूपों में

स्मरण किया जाता है। परन्तु संक्षेप में यदि उस महापुरुष के जीवन की व्याख्या करनी हो तो एक वाक्य में यही कहा जा सकता है कि भारत की अस्मिता का वह प्रखर प्रहरी भारत के उस “स्व” को उजागर करने वाला था, जिस स्व को स्वयं भारतवासी ही भूल चुके थे। जन सामान्य की तो बात ही छोड़ो, बड़े-बड़े दिग्गज विद्वान् भी आर्यावर्त के चिरकालीन अभिज्ञान से शून्य होकर परकीय अभिज्ञानों के मार्गों से अपना परिचय देने में अपने अस्तित्व की सार्थकता समझने लगे। ऋषि दयानन्द ने जिस प्रकार स्वदेश, स्वधर्म, स्वभाषा स्वसंस्कृति और स्वराज्य पर बल दिया है, इन सबके मूल में केवल भारत के स्व को ही उभारने का प्रयत्न है। आश्चर्य होता है कि महापुरुषों की खान के रूप में प्रसिद्ध इस महा देश में अपनी प्रतिभा से संसार भर को चमत्कारित करने वाले सरस्वती के वरद पुत्रों की कमी भले ही न रही हो, परन्तु भारत के इस स्व को अपने उज्ज्वल रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय यदि किसी एक व्यक्ति को दिया जा सकता है, तो वह शायद केवल मात्र ऋषि दयानन्द ही है।

यह कह कर हम अन्य महापुरुषों की अवहेलना या अवमानना नहीं करना चाहते परन्तु जितना-जितना विचार करते हैं, उतना-उतना स्पष्ट होता चला जाता है कि अन्य महापुरुषों का अवधान प्रायः एकांगी रहा है। किसी ने केवल स्वराज्य पर जोर दिया, किसी ने केवल स्वधर्म पर, किसी ने केवल स्वभाषा पर, और किसी ने केवल स्वसंस्कृति और स्वसाहित्य पर। भारतीय अस्मिता के इस पंचमुखी स्व को एक साथ समान रूप से महत्व देने वाला व्यक्ति ऋषि दयानन्द के सिवाय और कौन है? जिस शिवरात्रि के पर्व को हम ऋषि-बोध-दिवस के रूप में मनाते हैं वह केवल एक व्यक्ति का बोध नहीं है, वरन् समस्त राष्ट्र का बोध है। इसलिये उसका महत्व है। अन्यथा ऋषि दयानन्द के लिये बहुत आसान था कि वे जग के जंजाल से पलायन करके हिमालय की किसी गुफा में बैठकर योगाभ्यास करते, और केवल मोक्ष की साधना में ही दत्तचित्त रहकर अपना सारा जीवन व्यतीत कर देते। जिस व्यक्ति को व्यक्तिगत मोक्ष-साधना में भी भारतीय गंध आती हो, उस व्यक्ति की परोपकार-परायणता को क्या कहा जाए! कितने ही मोक्ष-साधक इसी को परम पुरुषार्थ मानते हैं, और एक तरह से अपने जीवन से यह प्रच्छन्न घोषणा भी करते हैं कि— “संसार जाये भाड़ में, हमको अपनी मुक्ति प्राप्त करनी है।”

इस देश की एक विचित्र विशेषता यह है कि यहां के मनीषियों ने देव की आराधना को परम पुरुषार्थ की कोटि में गिना है और उस देव की आराधना के लिये उन्होंने न केवल योगाभ्यास के द्वारा अपनी देह को सधाया है, इसी देह के द्वारा देवत्व की आराधना भी की है। और उसके लिये पूरी साधना का क्रम तैयार

करना कोई सामान्य उपलब्धि नहीं है। वेदों ने इसीलिये इस शरीर को देव-मन्दिर माना है। इसी शरीर को वेद ने देवपुरी और अयोध्या का नाम दिया है। इसी शरीर में सब ऋषियों को प्रतिष्ठित माना है, और इसी देह के माध्यम से देवत्व की आराधना करते हुए मानवता के आदर्श की स्थापना की है। परन्तु देह और देव के बीच में एक कड़ी और भी है, जिसकी ओर प्रायः मुमुक्षुओं ने ध्यान नहीं दिया। वह कड़ी है देश। भौतिक समृद्धि में चरम सुख देखने वाले केवल देह की उपासना करते हैं और वह देव को भूल गये। आध्यात्मिकता में रमण करने वाले देव के उपासक तो बने, पर वे देश को भूल गए। देह और देव के बीच में, एक तीसरी कड़ी देश भी है। इस बात को कितने महापुरुषों ने पहचाना है? यह बीच वाली कड़ी इतनी आवश्यक है कि यदि देश नहीं है, तो देह भी नहीं है और देव भी नहीं। इस प्रकार देह, देश और देव इन तीनों की समान-रूप से उपासना ही ऋषि दयानन्द के जीवन का उपदेश है।

असली शिव के दर्शन का जो संकल्प बालक मूल शंकर ने किया था, उस संकल्प की परिणति जिस शिव के दर्शन के रूप में हुई वह कोई पाषाण प्रतिमा नहीं है। वह पुराण-कल्पित कैलाशवासी शिव भी नहीं है। बल्कि वह भारत राष्ट्र ही असली शिव है। यह राष्ट्र यहां रुद्र के रूप में रौद्र रूप धारण करके असुरों का संहार करने वाला है, वह अपने देशवासियों का कल्याण करने के लिये अपने मस्तिष्क से जीवन-दायिनी गंगा को भी प्रवाहित करने वाला है। ऋग्वेद में लिखा है—

अहम् राष्ट्री संगमनी वसूनाम्।

अर्थात्, सब राष्ट्र के निवासियों को एक सूत्र में घिरोने वाली मैं राष्ट्रीय आत्मा हूँ। इसी का नाम राष्ट्रीयता है। जब तक किसी विशेष भूमिखंड के वासी एक स्वर से अपने देश की रक्षा के लिये एक सूत्र में गठित होकर सन्नद्ध नहीं होते, तब तक वह देश केवल एक जड़ भूमि-खंड बना रहता है, परन्तु जब चेतन प्राणधारी देशवासी अपनी समस्त चेतना का नैवेद्य उस देश को अर्पित करते हैं तब उस जड़ भूमि-खंड में प्राण-प्रतिष्ठा होती है। तब वह भूमि-खंड भी राष्ट्र कहलाता है। भारत-राष्ट्र भी तब तक केवल भौगोलिक भूखण्ड बन कर रह जायेगा, जब तक उसके निवासी अपने प्राणों की बाज़ी लगाकर उसकी रक्षा के लिये सन्नद्ध नहीं होंगे। बिना राष्ट्रीयता के राष्ट्र कैसा?

यह भी ध्यान रहे कि राष्ट्र किसी एक व्यक्ति का या किसी एक वर्ग का नहीं होता, बल्कि उस भूखण्ड के उन सभी निवासियों का होता है जो उसको अपना समझकर उसके प्रति अपने कर्तव्य का निर्वाह करते हैं। इस राष्ट्र की रक्षा का केवल एक ही उपाय है, और वह यह है कि राष्ट्र का प्रत्येक निवासी यज्ञीय भावना से प्रेरित होकर अपने मन में इस मंत्र का जप करे— 'इदम् राष्ट्राय स्वाहा। इदम्

न मम', अर्थात्, मेरा तन मन धन जो भी कुछ है, सब राष्ट्र के लिये अर्पित है। यह मेरा नहीं है, राष्ट्र का ही है।

राष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति उस राष्ट्र का छोटा घटक है, और वर्ग-विशेष सामाजिक रूप से व्यक्ति से बड़ा घटक है। परन्तु है वह एक घटक ही। राष्ट्र अवयवी है, और राष्ट्र के निवासी उसके अवयव हैं। राष्ट्र अंशी है, और राष्ट्र के निवासी उसके अंश हैं। अवयवी अवयव से हमेशा बड़ा होता है। अंशी हमेशा अंश से बड़ा होगा। इसी प्रकार राष्ट्र भी हमेशा किसी व्यक्ति से या व्यक्तियों के समूहों से सदा बड़ा होगा। परन्तु आज हमको उल्टा गणित सिखाया जा रहा है, और यह कहा जा रहा है कि राष्ट्र बड़ा नहीं है, बल्कि उस राष्ट्र के घटक ही उस राष्ट्र से बड़े हैं।

जब यह कहा जाता है कि अकाल-तख्त सर्वोपरि है, तो उसका क्या अर्थ है? उसका केवल एक ही अर्थ है कि समस्त गुरुद्वारों में उसकी स्थिति सर्वोच्च है। परन्तु यदि कोई अकाल-तख्त को भारतवर्ष से बड़ा मानता है तो वह किसी भी समझदार व्यक्ति की समझ में न आने वाली बात है। आज अकाल-तख्त सर्वोपरि है, कल कोई ईमामबुखारी जामा मस्जिद में बैठकर कहेगा कि जामा मस्जिद सर्वोपरि है। और परसों कोई तिरुपति का धर्माध्यक्ष यह घोषणा करेगा कि उसका मन्दिर सर्वोपरि है। अगले दिन कोई ईसाई किसी अपने वेटिकन में बैठकर यह घोषणा करे कि वह सर्वोपरि है। तो इन सब संकीर्णताओं के सामने राष्ट्र तो बचता ही नहीं।

जब हम भारत माता की जय बोलते हैं तो भारत माता कोई कल्पित देवी नहीं होती, बल्कि भारत के सत्तर करोड़ जन ही भारत माता हैं, और भारत माता की जय के माध्यम से एक तरह से अपनी ही जय और अपने में ही वे जिज्ञासा की भावना को प्रकट करते हैं। भारत माता की जय बोलने वाले प्रत्येक भारतवासी से हम कहना चाहते हैं कि जब तक तुम सोये रहोगे, तब तक इस भारत माता का भाग्य भी सोया रहेगा। तुम जागोगे तो भारत माता भी जागेगी। शिव रात्रि का पर्व शिव को जगाने का पर्व है। इस देश का जड़-प्रतिमा की तरह केवल भौगोलिक भूखण्ड मात्र ही मत रहने दो। यदि तुम इस रौद्र-रूप-धारी रुद्र के और कल्याण-रूप-धारी शिव के रूप में भारत के उपासक हो तो शिव को जगाओ। इस शिव को जगाने का केवल एक ही उपाय है कि शिव के उपासक जागें। भारत का जन-जन जागे। तो भारत राष्ट्र जागे। इस जागरण के पर्व की बेला में शिव को जगाओ रे शिव के उपासको! तुम्हारे बिना जागे यह शिव सोया ही रहेगा।

राष्ट्रीय एकता की कड़ी - हिन्दी

यह हिन्दी-अंक पाठकों के हाथ में है। इसमें हिन्दी सम्बन्धी कुछ सामग्री देने का प्रयत्न किया गया है। आश्चर्य की बात यह है कि स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व गैर-हिन्दी भाषियों ने भी जिस उत्साह के साथ हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का समर्थन किया था, और स्वयं सरकार ने भी इस सम्बन्ध में अपने कुछ उत्तरदायित्व स्वीकार किये थे। अब आज़ादी के ४० वर्ष के पश्चात् जनता और सरकार दोनों के उत्साह में वह तेज़ी नजर नहीं आती। व्यावहारिक दृष्टि से हमारे देश में आदान-प्रदान की भाषा के रूप में हिन्दी को हमेशा स्वीकृति प्रदान की गई है, और हिन्दी ने सैकड़ों वर्षों से विभिन्न भाषा-भाषियों के बीच इस दायित्व को बड़ी खूबी से निभाया है। हिन्दी की विशेषता यह है कि उसका विकास उसके भौगोलिक क्षेत्र के रहने वालों, अथवा किसी धर्म, वर्ग या जाति के लोगों ने नहीं किया। भारत के प्रत्येक कोने से अनेकानेक अहिन्दी भाषियों ने स्वतः-स्फूर्त एवं निस्वार्थ भाव से न केवल हिन्दी साहित्य की आधार शिला रखी, वरन् उसके भण्डार को भी बहुमूल्य रत्नों से भरा।

हिन्दी के प्रथम ग्रन्थ "स्वयंभू रामायण" के रचयिता कर्नाटक के रहने वाले जैन सन्त थे। हिन्दी के प्रथम गद्य-लेखक सीमाप्रान्त के रहने वाले बाबा गोरखनाथ थे। दसवीं से चौदहवीं सदी तक का दिंगल साहित्य मुख्यतया कर्नाटक, महाराष्ट्र, गुजरात, पंजाब और राजस्थान में लिखा गया। तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी में जब हिन्दी ने अपना वर्तमान रूप धारण किया, तब अमीर खुसरो तथा अन्य अनेक मुसलमान कवियों ने बृजभाषा और खड़ी बोली पर आधारित पद रचे। रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य और माध्वाचार्य आदि दक्षिण के अलवार सन्तों की भक्ति-धारा को कबीर के माध्यम से उत्तर भारत में प्रभावित करने का कार्य स्वामी रामानन्द ने सम्पन्न किया।

आन्ध्र-मूल के तेलंग गोस्वामी वल्लभाचार्य और उनके सुपुत्र गोस्वामी विठ्ठलनाथ महाकवि सूरदास तथा अष्टछाप के अन्य कवियों के प्रेरक तथा पोषक हुए। देवनागरी लिपि में मुद्रण प्रारम्भ करने का श्रेय भी बाईबिल छापने के लिये चार्ल्स विल्कन्स और पंचानन कर्मकार को है। हिन्दी का प्रथम समाचार-पत्र गैर-

हिन्दी-भाषी कलकत्ता से प्रकाशित हुआ था। हिन्दी के विकास के लिये आज भी गैर-हिन्दी-भाषी राज्यों के इसी प्रकार के सहयोग की आवश्यकता है।

परन्तु इससे हिन्दी-भाषी राज्यों का उत्तरदायित्व कम नहीं हो जाता। जिनकी मातृभाषा हिन्दी है उनके ऊपर यह विशेष दायित्व है कि समस्त भारत की एकता को दृष्टि में रखते हुए वे हिन्दी को राष्ट्रीय एकता की कड़ी के रूप में प्रस्तुत करें, और स्वयं अपने राज्यों में समस्त कामकाज हिन्दी भाषा में प्रारम्भ करके गैर-हिन्दी-भाषी राज्यों के समक्ष उदाहरण प्रस्तुत करें। जब तक हिन्दी-भाषी राज्य अपने दायित्व को पूरा नहीं करते, तब तक उनको गैर-हिन्दी-भाषी राज्यों से शिकायत करने का कोई अधिकार नहीं है। ऋषि दयानन्द स्वयं अहिन्दी भाषी थे, और राष्ट्रीय एकता के माध्यम के रूप में उन्होंने हिन्दी को अब से १२५ वर्ष पहले ही भावी भारत की राष्ट्रभाषा के रूप में पहचान कर उसे उस रूप में अपनाया था। ऋषि दयानन्द के मन में क्या था? यह उनके इस एक वाक्य से ही पता लग जाता है—“मेरी आंखें वह दिन देखने को तरस रही हैं, जब कश्मीर से कन्यामुमारी तक प्रत्येक भारतवासी हिन्दी बोलेगा, और उसमें अपना व्यवहार करेगा।” क्या निकट-भविष्य में उस दिन के आने की कोई सम्भावना है?

१३ सितम्बर १९८७



संस्कृत-हिन्दी-अंग्रेजी

‘हिन्दी में शुरू से ही सदा ‘देश’ बोलता रहा है। उसने कभी प्रदेश की उपेक्षा नहीं की, या कभी उसे हीन स्थान भी नहीं दिया। किसी समय बृहत्तर सांस्कृतिक इकाई की प्राणभाषा संस्कृत थी। परन्तु कालान्तर में वह पूरी तरह सत्ता-संस्थान से जुड़ गई। हिन्दी के साथ ऐसा कभी नहीं हो पाया। वह संस्थान की नहीं, संस्थान के विरुद्ध विद्रोह की भाषा रही है। क्या यह आश्चर्य की बात नहीं कि जहां-जहां हिन्दी का विरोध होता रहा, वहां-वहां भारत का भी विरोध होता रहा।

“अंग्रेजी में सत्ता की गन्ध है, शोषण का विष है, और उसमें भारत की सांस्कृतिक चेतना को उजागर करने का वह सामर्थ्य नहीं है, जो हिन्दी में है।...परन्तु अभी तक हिन्दी अपने राजभाषा के आसन को प्राप्त नहीं कर सकी। अभी तक सिंहासन पर अंग्रेजी ही आसीन है। स्वतंत्रता प्राप्त करने के बाद अंग्रेजी का बोलबाला कई गुना, अधिक बढ़ गया है। किसको दोष देंगे? वर्तमान शासकों को, और स्वयं की निष्ठा-हीनता को। हैं न?”

—‘असलियत क्या है?’ पृष्ठ १४७-१५१

भूकम्प और स्वयंसेवी संस्थाएं

भूकम्प एक ऐसी प्राकृतिक विपदा है जो बिना पूर्व सूचना दिये ही अकस्मात् आ जाती है और कुछ मिनटों में ही प्रलय-ताण्डव का सा दृश्य उपस्थित कर देती है। बिहार में सन् १९३४ में भी भूकम्प आया था। परन्तु तब भारत पराधीन था। और देश के शासकों को जनता के जान-माल की न उतनी चिन्ता थी, और न वे अपनी ऐसी जिम्मेवारी समझते थे। परन्तु अब राज्य सरकार और केन्द्रीय सरकार का सक्रिय हो उठना स्वाभाविक था। आखिर भारत अब स्वाधीन है, और सरकार को हम अपनी सरकार ही समझते हैं। भूकम्प के दो दिन बाद प्रधानमन्त्री वहां दौरा करने गये और राज्य सरकार कुछ हाथ-पांव हिलाती हुई प्रतीत हुई। परन्तु प्रधानमन्त्री के दौरे के समाप्त होने के अगले दिन राहत-कार्य में तेजी दिखाई थी, वह शिथिल पड़ गई। इसका कारण क्या है?

सन् १९३४ के भूकम्प में महात्मा गांधी, डॉ॰ राजेन्द्र प्रसाद, पं० जवाहर लाल नेहरू और श्री जयप्रकाश नारायण स्वयं कुदाल लेकर राहत-कार्य में जुट पड़े, और देखते ही देखते जन-सहयोग उमड़ पड़ा। इस जन-सहयोग में स्वयंसेवी संस्थाओं ने बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। स्वयंसेवी संस्थाएं इस बार भी कुछ-कुछ सक्रिय हुई हैं, और उनमें आर्य समाज भी किसी से पीछे नहीं है। परन्तु आश्चर्य की बात है कि सरकारी तन्त्र की क्षमता पर किसी को भरोसा नहीं है। बिहार-सरकार अपनी निष्क्रियता के लिये पहले ही बहुत बदनाम है। कुछ लोग तो यह भी कहते हैं कि बाढ़ या भूकम्प जैसी प्राकृतिक विपदाएं विपद्-ग्रस्त लोगों को इतनी राहत नहीं पहुंचातीं, जितनी राहत सरकारी अफसरों को पहुंचाती हैं। हरियाणा के मुख्यमंत्री चौधरी देवी लाल ने तो बिहार का दौरा करने के बाद यह स्पष्ट रूप से घोषणा कर दी कि सरकार को दिया गया कोई भी सामान या रुपया-पैसा मुसीबत शुदा लोगों तक नहीं पहुंचेगा, वह केवल नौकरशाही के तामझाम में खर्च होगा। ऐसे काम में सबसे अधिक ज़रूरी तो जन-सहयोग होता है, उसको जुटाने की तो किसी को चिन्ता ही नहीं होती। इसलिये चौधरी देवी लाल ने जो कुछ कहा वह एक तरह से गलत

नहीं था। चौधरी साहब ने कहा कि मुझे सरकारी कर्मचारी कहीं राहत कार्य करते दिखाई नहीं दिये। अलबत्ता मारवाड़ी रिलीफ सोसायटी तथा कुछ अन्य स्वयंसेवी संस्थाएं काम करती दिखाई दीं। इसलिये मैंने मारवाड़ी रिलीफ सोसायटी को ही पांच लाख रुपया, तथा एक अन्य स्वयंसेवी संस्था को पांच लाख रुपया दिया, क्योंकि मैं जानता था कि सरकार को दिया गया पैसा सब बट्टेखाते जायेगा।

सरकार की ओर से जनहित की बजाय राजनीतिक दृष्टि को अधिक प्रमुखता दी जाती है, इसका भी उदाहरण मौजूद है। एक तो प्रधानमंत्री ने यह गलत बयान दे दिया कि अखबारों तथा अन्य प्रचार-माध्यमों से जितना कहा जा रहा है, भूकम्प से उतना नुकसान हुआ नहीं। अपनी बात के समर्थन के लिये उन्हें मुख्यमंत्री श्री भगवत झा आजाद से मृतकों की संख्या पढ़ने को कहा। पर मुख्यमंत्री ने निरीहभाव से कह दिया कि केवल १६५ व्यक्तियों की मृत्यु हुई है। दौरे से लौटने के बाद जब प्रधानमंत्री को अपने बयान की गलती महसूस हुई, तो उन्होंने अपना आक्रोश मुख्यमंत्री पर निकाला, और अपने साथियों से कहा कि मुझसे यह गलत बयान उन्होंने ही दिलवाया। पीछे जब सरकारी अफसरों से अखबार वालों ने पूछताछ की तो अफसरों ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया कि अभी मरने वालों की सही संख्या पता नहीं लग सकी है।

प्रधानमंत्री ने एक गलती यह भी कर दी कि उन्होंने मुख्यमंत्री को उसके राहत-कार्य के लिये जो तीस लाख रु० की राशि दी, उसमें से २० लाख रु० उस गांव को देने को कहा है, जिसमें मुसलमानों का बहुमत था, और हमीदिया मदरसे की इमारत गिर गई थी। प्रधानमंत्री की ओर से यह भेदभाव निश्चित रूप से अल्पसंख्यकों के बोट प्राप्त करने की राजनीति थी, जिसका स्वाभाविक परिणाम यह होना ही था कि भूकम्प-पीड़ित अन्य इलाकों के लोगों में सरकारी तन्त्र के प्रति वितृष्णा पैदा होती।

सरकारी तन्त्र के प्रति लोगों में कैसी अनास्था है, उसके भी कुछ उदाहरण हैं। मारवाड़ी रिलीफ सोसायटी के कार्यकर्ता कुछ थालियां, वस्त्र और दवाईयां पीड़ित लोगों में वितरित करना चाहते थे; परन्तु स्थानीय सरकारी अस्पताल के डाक्टरों ने कहा कि यह सब सामान तुम हमें दे जाओ, हम पीड़ितों में वितरित कर देंगे। परन्तु सोसायटी के कार्यकर्ताओं को लगा कि यह सामान या तो जनता तक पहुंचेगा नहीं, या जनता तक पहुंचेगा भी तो सरकारी अधिकारी इस सब सामान का बिल पेश करके सरकार से उसका पैसा वसूल कर लेंगे। सरकारी तन्त्र के प्रति यह अनास्था किसी के लिये भी शोभाप्रद नहीं

है। न सरकार के लिये और न ही जनता के लिये। इसलिये ऐसे समय में उन सभी स्वयंसेवी संस्थाओं का महत्व और अधिक बढ़ जाता है। राजनैतिक दल राजनीति करने से बाज़ नहीं आयेंगे। इसलिये स्वयंसेवी संस्थाओं को राजनीति से अलग रहकर, जन-सहयोग के भरोसे ही इस राष्ट्रीय विपत्ति का सामना करने के लिये कमर कसनी होगी।

४ सितम्बर १९८८



“आर्यसमाज के तेजस्वी रूप ने संसार के सभी बुद्धिजीवी व्यक्तियों को प्रभावित कर अनेक क्षेत्रों में सुधारवादी दृष्टिकोण को लेकर कार्य करने के लिए प्रेरित किया। २०वीं सदी के प्रारम्भ में इसी युग के महान् व्यक्तित्व के धनी महात्मा मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) ने अपने तप-त्याग और आत्मिक बल के आधार पर ऋषि दयानन्द द्वारा सत्यार्थप्रकाशादि आर्षग्रन्थों में प्रदर्शित गुरुकुलीय परम्परा को मूर्तरूप देने के लिए सन् १९०१ में हरिद्वार के निकट भागीरथी के तट पर कांगड़ी गांव की पवित्र भूमि में प्रथम ‘गुरुकुल’ की स्थापना की, जो आज विश्वविद्यालय है।

उसी गुरुकुलीय शिक्षा-प्रणाली से अनुप्राणित होकर, हजारों व्यक्तियों ने देश-धर्म और मानव-जाति के लिए अपने प्राणों को नगण्य समझकर समाज के प्रत्येक क्षेत्र में सुधारवादी दृष्टिकोण को लेकर आर्यसमाज रूपी बलिदानी संगठन की यशःपताका को देश-देशान्तरों एवं द्वीप-द्वीपान्तरों में फहराया। सदियों से गुलामी की जंजीरों में जकड़े इस भारत को सदा-सदा के लिए विदेशी शिकंजों से उन्मुक्त कराया। उस समय के जन-जन के मुख से एक स्वर झंकृत हुआ—

आयेंगे खत अरब से जिनमें लिखा यह होगा।

गुरुकुल का ब्रह्मचारी हलचल मचा रहा है।।

हमारे आज के चरित्रनायक पं० कितीश वेदालंकार इसी गुरुकुलीय शिक्षा-प्रणाली से अनुप्राणित होकर देश और समाज में हलचल मचा देने वाले एक ब्रह्मचारी ही थे। अपने अध्ययन काल से अन्तिम श्वास तक वे अपनी ओजस्वी वाणी एवं लेखनी द्वारा वैदिक धर्म की दुन्दुभि बजाते हुए देशप्रेम के गीत गाते रहे।”

-पं० हरिदेव आचार्य

गुरुकुल, गौतम नगर, नई दिल्ली

शिक्षक-दिवस

“स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है” के मन्त्रदाता लोकमान्य तिलक से एक बार किसी ने पूछा था कि जिस स्वराज्य—प्राप्ति के लिये आप अहर्निश इतने प्रयत्नशील हैं, जब वह स्वराज्य मिल जायेगा, तब आप देश के प्रधानमन्त्री बनना पसन्द करेंगे या राष्ट्रपति। लोकमान्य तिलक ने विनम्रतापूर्वक कहा कि जिस दिन देश को ऐसा सौभाग्य प्राप्त होगा, उस दिन मैं प्रधानमन्त्री या राष्ट्रपति बनने के बजाय किसी शिक्षा—संस्था में गणित का अध्यापक बनना पसन्द करूंगा। इस उत्तर में जहां लोकमान्य तिलक की मुख्य रुचि छिपी हुई है, वहां साथ ही यह भावना भी कि अध्यापक का दर्जा प्रधानमन्त्री या राष्ट्रपति से बड़ा नहीं, तो छोटा भी नहीं है।

इंग्लैण्ड के इतिहास की एक पुरानी घटना है। वहां एक स्कूल का अध्यापक अपने छात्रों में और अपने आसपास के इलाके में इतना लोकप्रिय था कि उसकी लोकप्रियता की चर्चा महारानी के कान तक भी पहुंची। महारानी ने सोचा कि एक मामूली सा अध्यापक किन विशेषताओं के कारण इतना लोकप्रिय हुआ है, यह मुझे स्वयं जाकर देखना चाहिये। महारानी ने अध्यापक के पते पर चिट्ठी लिखी और अपने आने की इच्छा प्रकट करते हुए उससे पूछा कि जब आपको असुविधा न हो उसी दिन मैं आपके स्कूल के निरीक्षण के लिये आना चाहती हूं। जब आसपास की जनता को यह बात पता लगी कि हमारे देश की महारानी स्कूल देखने आ रही हैं, तो जनता हर्ष—विभोर हो उठी और अपने स्कूल मास्टर के प्रति उनके आदर की भावना और भी अधिक बढ़ गई। स्कूल मास्टर के प्रति इस गौरव की अभिव्यक्ति से सारी जनता अपने आपको गौरवान्वित समझने लगी। स्वयं मास्टर साहब भी बड़ी दुविधा में पड़ गये कि महारानी का स्वागत अपने छोटे से स्कूल में हम किस प्रकार कर पायेंगे। अन्त में बहुत सोचविचार के पश्चात् उस मास्टर ने महारानी को चिट्ठी लिखी “महारानी जी हमारे लिये इससे बढ़ कर गर्व की बात और क्या हो सकती है कि आप स्वयं हमारे स्कूल का निरीक्षण करने आवें, और हमें अपने स्वागत का सौभाग्य प्रदान करें। अपने छोटे से स्कूल में देश की सर्वसत्ता—सम्पन्न राजराजेश्वरी का अभिनन्दन करने के योग्य उचित साधन हम

कहां से लायेंगे? इसकी चिन्ता मुझे नहीं है, परन्तु महारानी जी मेरी असली चिन्ता यह है कि मेरे शिष्य मुझे संसार में सबसे बड़ा मानते हैं, और मेरे प्रति उनका इतना भक्तिभाव भरा आदर है कि आपके यहां आने पर जब वे मुझे आपके सामने झुकता हुआ देखेंगे, तो उनके मन में मेरी महिमा को ठेस लगेगी। मैं नहीं चाहता कि मेरे शिष्यों में इस प्रकार की भावना पैदा हो, और जिस सांचे में मैं उनको ढालना चाहता हूँ उसमें कुछ बाधा उपस्थित हो। इसलिये अत्यन्त क्षमा—याचना—पूर्वक आपसे निवेदन करना चाहता हूँ कि आप यहां न आयें तो अच्छा है।” अपने देश की सर्वसत्ताधीश्वरी के प्रति उस अध्यापक का यह उत्तर कहां तक उचित था? इस पर बहस हो सकती है। परन्तु अध्यापक का दर्जा कैसा होता है, उसका इस घटना से पता लगता है।

डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने, जो सारे संसार में भारतीय दर्शनों के सबसे प्रबल प्रवक्ता थे और जिनकी ज्ञान—गरिमा का विश्व भर में आदर था, भारत के राष्ट्रपति—पद पर शोभायमान होकर जहां अपने पद को गौरवान्वित किया था, वहां शिक्षक के पद को भी गौरवान्वित किया था; क्योंकि वह मूल रूप से शिक्षक ही थे। इसीलिये पांच सितम्बर को उनके जन्म दिवस को सारे देश में शिक्षक—दिवस के रूप में मनाकर उनके प्रति श्रद्धांजलि प्रकट करने का आयोजन अत्यन्त शुभ है। परन्तु सारे वर्ष में केवल इस एक दिन शिक्षकों को याद करके उनमें से कुछ लोगों को सम्मानित करना, और बाकी सारे साल उनकी उपेक्षा किये रखना कहां तक उचित है?

देश का असली प्राण—दाता शिक्षक ही होता है, क्योंकि राष्ट्र के भावी कर्णधार उसके ही सानिध्य में पुष्पित और पल्लवित होते हैं। परन्तु आज कितने शिक्षक हैं, जो अपनी इस जिम्मेवारी को समझते हैं। गुरु—शिष्य की परम्परा भारतीय संस्कृति की पवित्रतम परम्परा है, पर आज उसका भी व्यवसायीकरण हो गया है। देश की वर्तमान पीढ़ी जैसी भी है, उसके निर्माण का श्रेय या कुश्रेय शिक्षकों को ही पहुंचता है, और जो शिक्षक अपनी इस राष्ट्रीय प्रतिबद्धता को अंगीकार नहीं करता उसको शिक्षक बनना ही क्यों चाहिये?

सुभाषित

न्यायमूर्ति श्री बनवारी लाल यादव, न्यायाधीश उच्च न्यायालय, इलाहाबाद दिनांक २५.६.१९८५ को श्री नन्द किशोर जी, महामन्त्री, केन्द्रीय आर्य सभा, अमृतसर के नाम अपने पत्र में लिखते हैं:

“अभी हाल ही में कम्प्यूटर में संसार भर की सभी भाषाएं इस उद्देश्य से रखी गई कि कौन सी भाषा सुनने, समझने, लिखने, बोलने, पढ़ने, समझने तथा अपने विचार दूसरे से व्यक्त करने में तथा कर्ण-प्रिय होने में सर्वश्रेष्ठ है? तो उत्तर मिला कि केवल “संस्कृत भाषा”। इस प्रकार “देव-भाषा” होने के अतिरिक्त आधुनिकतम वैज्ञानिक यन्त्र द्वारा भी संस्कृत भाषा सर्वश्रेष्ठ भाषा सिद्ध हो चुकी है।” पत्र में आगे विद्वान् न्यायाधीश लिखते हैं—“यदि ईश्वर की कृपा बनी रही तो भविष्य में कुछ निर्णय तथा आदेश “संस्कृत भाषा” में ही पारित करता रहूंगा।”

प्रेषक—भोलानाथ दिलावरी, प्रधान केन्द्रीय आर्यसभा, अमृतसर

बिना केन्द्र के परिधि कैसी?

सन् १९७२ के मार्च मास में नई दिल्ली में जो ‘अन्तर्राष्ट्रीय संस्कृत सम्मेलन’ हुआ था, उसमें फ्रांस के प्रसिद्ध विद्वान् प्रो० जीन फिलीयोजा ने अपना निबन्ध पढ़ते हुए संस्कृत के संबंध में जो कुछ कहा था वह ध्यान देने योग्य है। उन्होंने कहा था—

“अनेक विद्वान् चिरकाल से यह समझते चले आ रहे हैं कि संस्कृत एक ऐसी पवित्र और साहित्यिक भाषा है जिसका ब्राह्मण-वर्ग से विशेष संबंध है। यह किसी हद तक सही है, परन्तु भारतीय समाज में उसके रचनात्मक पहलू को स्पष्ट करने के लिए और विदेशी भाषाओं पर तथा स्वयं भारतवर्ष की आधुनिक और प्रादेशिक भाषाओं पर भी उसके प्रभाव की व्याख्या करने के लिए वह पर्याप्त नहीं है।

“यदि अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में संस्कृत केवल पुरातनपंथी साक्षर वर्ग तक सीमित होती तो हम इस तथ्य को कैसे समझेंगे कि समस्त एशिया की मुख्य भूमि में और समुद्र के पार चीन और जापान में उसका प्रचार बौद्धों ने किया था, जो ब्राह्मणों को अपने में सम्मिलित होने की स्वीकृति तो देते थे, पर वे स्वयं अधिकतर अब्राह्मण थे।

“वास्तव में अफगानिस्तान से कन्याकुमारी तक समस्त भारतीय समुदायों में केवल संस्कृत ही सम्पर्क भाषा थी। इसी कारण उत्तर वैदिक काल के जितने धार्मिक सम्प्रदाय हैं उन सबने अपने धर्मग्रन्थ संस्कृत में लिखना ही उचित समझा।

“समस्त एशियाई महाद्वीप में संस्कृत का प्रचार बहुत व्यापक था परन्तु दक्षिण-पूर्वी एशिया में उसका प्रभाव और स्वीकृति और भी अधिक थी। वहां वह केवल आयातित या अनूदित भाषा नहीं थी बल्कि स्वयं समृद्धि प्राप्त कर रही थी। चम्पा (वियतनाम), कम्पूचिया (कम्बोडिया) और इन्डोनेशिया में काव्य-शैली में तीसरी से तेरहवीं शताब्दी तक के संस्कृत के एक हज़ार से अधिक शिलालेख मिले हैं। वे इस बात के स्पष्ट साक्षी हैं कि इन देशों में भारतीय संस्कृति का कितना आदर था।

संस्कृत वहां केवल शिक्षित वर्गों तक सीमित नहीं थी, अपितु वहां की स्थानीय साधारण भाषाओं में भी उसकी प्रतिध्वनि विद्यमान है। इसके बिना हम इस बात की व्याख्या नहीं कर सकते कि चम्पा, कम्बोडिया, बर्मा, थाईलैंड, लाओस, मलेशिया और इन्डोनेशिया में अनेक संस्कृत शब्दों को किस प्रकार सम्मिलित कर लिया है। प्रो० गौण्डा ने ‘इन्डोनेशिया में संस्कृत’ नाम से एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ ही लिख दिया है।

प्रो० जीन ने अपना विद्वत्तापूर्ण निबन्ध इन शब्दों से समाप्त किया था—“समस्त इतिहास में, वास्तव में, संस्कृत केवल कुछ साक्षर वर्गों तक ही सीमित नहीं रही। ब्राह्मण-परम्परा ने इसको बेशक उच्चतम स्तर तक पहुंचाया। परन्तु यह समस्त भारत और दक्षिणी-पूर्वी एशिया की आम जनता तक फैल गई थी, और इस प्रकार यह समस्त भारत की सांस्कृतिक एकता का ही माध्यम नहीं बनी, प्रत्युत भारत के बाहर भारतीय संस्कृति के विस्तार का भी कारण बनी।”

उन्नीसवीं सदी में यूरोप को संस्कृत का प्रथम परिचय देने वालों में अग्रणी कलकत्ता के तत्कालीन न्यायाधीश सर विलियम जोन्स ने कहा था कि “संस्कृत भाषा की पुरातनता के संबंध में चाहे कुछ भी कहा जाये, परन्तु उसकी रचना अद्भुत है, वह ग्रीक से अधिक परिपूर्ण है, शब्द-भण्डार की दृष्टि से लैटिन से अधिक विपुल है, और इन दोनों भाषाओं से कहीं अधिक परिष्कृत है।”

इसके साथ ही प्रो० मैक्समूलर ने भारतीय सिविल सर्विस के छात्रों के सम्मुख जो सात भाषण दिये थे वे ‘इण्डिया-व्हाट इट कैन टीच अस’ नामक पुस्तक में संकलित हैं। तीसरे व्याख्यान में उन्होंने कहा था—“हमें कदाचित् यह नहीं भूलना चाहिए कि भारत की सभी भाषाओं का मूल स्रोत संस्कृत है। मेरा यह मत है कि संस्कृत का आरम्भिक ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् भारत की सभी भाषाओं को सीख पाना बहुत सरल हो जाता है।”

ऊपर हमने संस्कृत के संबंध में जान बूझकर कुछ लम्बे उद्धरण दिये हैं। ये उद्धरण विदेशी विद्वानों के हैं। वे भी इस प्रयोजन से कि भारत के आधुनिक शिक्षित वर्ग में जब तक विदेशी विद्वानों के उद्धरणों के साथ कोई बात नहीं कही जाती,

तब तक उनका मन और बुद्धि आश्वस्त नहीं होते। उनके मन की हीन-भावना भारतीय विद्वानों द्वारा प्रकट किये गए विचारों के प्रति उनको उतना उदार और निष्पक्ष नहीं होने देती, जितनी विदेशी विद्वानों के कथनों के प्रति होने देती है। जहां तक भारतीय विद्वानों का संबंध है, उनके कथनों को देखकर तो ये तथाकथित मानसिक दृष्टि से पराधीन विद्वान् सीधा यह कहने से नहीं चूकेंगे- 'हां अपने दही को खट्टा कौन कहता है?'

ये उद्धरण हमने इस प्रयोजन से भी दिये हैं कि इस बार के हंसराज दिवस के विशाल समारोह में समारोह के मुख्य अतिथि शिखरस्थ अधिवक्ता डा० लक्ष्मीमल सिंघवी ने अपने भाषण में माननीय रक्षामंत्री महोदय को, जो वहां उपस्थित थे, लक्ष्य करके बड़े मार्मिक शब्दों में उनसे यह अपील की थी कि आप देश के रक्षामंत्री हैं, इस नाते देश की बाहरी भौगोलिक सीमाओं की रक्षा करना भी रक्षामंत्री के नाते आपका उतना ही बड़ा कर्तव्य है। इसीलिए मैं आपसे हाथ जोड़कर और झोली फेंलाकर यह भीख मांगता हूं कि कृपा करके संस्कृत की रक्षा करें। जो शिक्षा नीति आपने बनाई है, और उसमें त्रिभाषा-सूत्र को जिस ढंग से लागू किया है, उसका सीधा परिणाम यह होगा कि आगामी दस वर्ष के बाद इस देश में न कोई संस्कृत का अध्यापक बचेगा, और न कोई संस्कृत का छात्र बचेगा; और जब संस्कृत नहीं रहेगी तो भारतीय संस्कृति किसके आधार पर टिकेगी। जो संस्कृत भारतीय अस्मिता की मूल है, उसकी उपेक्षा करके आप भारतीय आत्मा का हनन कर रहे हैं।

एक बात विशेष रूप से समझने की है। संसार में ऐसा कोई वृत्त कभी नहीं बना जिसकी केवल परिधि हो और उसका कोई केन्द्र-बिन्दु न हो। बिना केन्द्र के परिधि कैसी? परन्तु जो संस्कृत समस्त भारतीय वाङ्मय का, समस्त प्राचीन मनीषा का और हजारों सालों के भारतीय संस्कारों का मूल केन्द्र-बिन्दु है, बिना संस्कृत के वह साहित्य, वह मनीषा, और वह समूचा संस्कार केन्द्र-बिन्दु के अभाव में धराशायी हो जायेगा। हम परिधि का तो अधिक से अधिक विस्तार करना चाहते हैं परन्तु उस केन्द्र-बिन्दु को नष्ट कर देना चाहते हैं। यहां फिर वहीं बात दोहराने की है- 'नष्टे मूले नैव फलं न पुष्पम्'-मूल नष्ट हो गया तो न पत्ते रहेंगे, और न फल रहेंगे। हमारी भविष्यदर्शी सरकार विज्ञान का कितना बड़ा चमत्कार करना चाहती है कि बिना मूल के वह पत्तों, पुष्पों और फलों की आकांक्षा करती है। वह बिना केन्द्र के वृत्त का विस्तार करना चाहती है।

एक बात की ओर और भी ध्यान खींचना चाहते हैं। हमने संस्कृत को भारतीय अस्मिता का मूल और भारतीय मनीषा की परिधि का केन्द्र-बिन्दु कहा है। परन्तु यह भी उसका पूर्ण परिचय नहीं है। वास्तव में तो संस्कृत को केवल भारतीय अस्मिता का मूल कहना भी उसका अवमूल्यन करना है, क्योंकि वह भारतीय अस्मिता के

बजाय मानवीय अस्मिता का मूल है; और इस नाते से वह समस्त मानव जाति की ऐसी बहुमूल्य निधि है जिसके अभाव में मानव-जाति विचारों की दृष्टि से दरिद्र हो जायेगी। भारतीय ऋषि केवल भारतीयों के पूर्वज नहीं थे, वे समस्त मानव जाति के पूर्वज थे; और उन्होंने हजारों सालों तक जो चिन्तन किया, जो मन्थन किया, ज्ञान-विज्ञान के विविध क्षेत्रों में ऊहापोह करने के पश्चात् जो महत्त्वपूर्ण अददान दिया, वह सिवाय संस्कृत के और किस भाषा में सुरक्षित है? इसके अतिरिक्त इन ऋषि-मुनियों ने केवल बुद्धिकौशल के द्वारा नहीं, प्रत्युत आत्मानुभूति के द्वारा भी जिन आध्यात्मिक रहस्यों का साक्षात्कार किया, और सृष्टि और उसके नियन्ता के सम्बन्ध में जो विशिष्ट विचारधारा प्रस्तुत की, उसका संचय और परिचय भी सिवाय संस्कृत के संसार की और किस भाषा से प्राप्त किया जा सकता है?

इसलिये केवल भारतीय अस्मिता की दृष्टि से ही नहीं, बल्कि मानवीय अस्मिता की दृष्टि से भी संस्कृत की रक्षा अत्यन्त आवश्यक है। भारत सरकार को यह सौभाग्य प्राप्त है, और यह उसका विशेषाधिकार भी है, कि मानव जाति की यह चिर-निधि उसके पास अभी तक सुरक्षित है। इसलिये भविष्य में भी इसकी रक्षा के लिये वह समस्त मानव जाति के प्रति उत्तरदायी है। यदि भारत सरकार अपने दायित्व का निर्वाह नहीं करती तो मानव जाति के प्रति वह कितनी जबाबदेह होगी? यदि पहरेदार ही रखाने की रखवाली के प्रति लापरवाही बरते, तो उस पहरेदार को कौन बर्दाश्त करेगा, और कब तक?

३० अप्रैल १९८६



“संस्कृत केवल भारत की थाती नहीं है। यह समस्त मानव-जाति की चिर-निधि है। संसार की सबसे प्राचीन भाषा संस्कृत में ही वह अद्भुत कोष सुरक्षित है, जो मानव-जाति के पूर्वज मनीषियों ने, और ऋषि-मुनियों ने हजारों साल तक अपने चिन्तन-मनन और स्वाध्याय के परिणाम-स्वरूप संचित किया था। आज भी सारे भारत की राष्ट्रीय एकता का जैसा सामर्थ्य इस भाषा में है, वैसा किसी और भाषा में नहीं। कश्मीर से कन्याकुमारी तक भारत के प्रत्येक प्रदेश में आज भी संस्कृतज्ञों का सर्वथा अभाव नहीं है। किसी भारतीय भाषा का कोई प्रतिष्ठित साहित्यकार ऐसा नहीं होगा, जो अपनी भाषा के साथ-साथ संस्कृत का भी ज्ञाता न हो।”

—‘द्यनिका’, पृष्ठ १६१

स्वामी श्रद्धानन्द उवाच

मैं सन् १९११ में दिल्ली के शाही दरबार में सद्धर्मप्रचारक का सम्पादक होने के अधिकार से शामिल हुआ था। मैंने प्रेस कैम्प में ही डेरा डाला। मद्रास के एक मशहूर दैनिक के सम्पादक महोदय से एक दिन मेरी बातचीत हुई। उन सज्जन का आग्रह था कि अंग्रेजी ही हमारी राष्ट्रभाषा बन सकती है। अंग्रेजी ने ही इंडियन नेशनल कांग्रेस को सम्भव बनाया है, इसलिए उसी को राष्ट्रभाषा बनना चाहिए। जब मैंने संस्कृत की ज्येष्ठ पुत्री आर्यभाषा (हिन्दी) का नाम लिया तो उन्होंने मेरी समझ पर हैरानी प्रकट की। उन्होंने कहा कि कौन शिक्षित पुरुष आपकी बात मानेगा? दूसरे दिन वे कहार को भंगी समझ कर अपनी अंग्रेजीनुमा तमिल में उसे सफाई करने की आज्ञा दे रहे थे। कहार कभी लोटा लाता कभी उनकी धोती की तरफ दौड़ता। उसकी समझ में कुछ नहीं आ रहा था। मिस्टर एडीटर खिसियाते जाते। इतने में ही मैं उधर से गुजरा। वे भागते हुए मेरे पास आए और बोले 'यह मूर्ख मेरी बात नहीं समझता। इसे समझा दीजिए कि जल्दी से शौचालय साफ कर दे।' मैंने हंसकर कहा—'अपनी प्यारी राष्ट्रभाषा में ही समझाइए।' इस पर वे शर्मिन्दा हुए। मैंने कहार को मेहतर बुलाने के लिए भेज दिया। किन्तु एडीटर महोदय ने इसके बाद मुझसे आंख नहीं मिलाई।

भागलपुर आते हुए मैं लखनऊ रुका था। वहां श्रीमान जेम्स मेस्टन के यहां मेरी डा० फिशर से भेंट हुई थी। वे बड़े प्रसिद्ध शिक्षाविज्ञ और केंब्रिज विश्वविद्यालय के वाइस चांसलर हैं, भारतवर्ष में पब्लिक सर्विस कमीशन के सदस्य बनकर आए थे। उन्होंने कहा कि मैंने अपने जीवन में सैकड़ों भारतीय विद्यार्थियों को पढ़ाया है। वे कठिन से कठिन विषय में अंग्रेज विद्यार्थियों का मुकाबला कर सकते हैं, परन्तु स्वतन्त्र विचार-शक्ति उनमें नहीं है। उन्होंने मुझसे इसका कारण पूछा। मैंने कहा कि यदि आप मेरे साथ गुरुकुल चले तो इसका कारण प्रत्यक्ष दिखा सकते हैं, कहने से क्या लाभ? जब तक शिक्षा का माध्यम मातृभाषा नहीं होगी, तब तक इस अभागे देश के छात्रों में स्वतन्त्र और मौलिक चिन्तन की शक्ति कैसे पैदा होगी?

(सन् १९१३ में भागलपुर में हुए हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष पद से दिये गये भाषण से)

भारतीय भाषाओं की उपेक्षा कब तक?

२८ अप्रैल से भारतीय भाषाओं के संरक्षण के लिए चार व्यक्ति संघ लोक सेवा आयोग भवन के सामने अनिश्चित कालीन अनशन पर बैठे हैं। उनकी हालत दिन-प्रतिदिन नाजुक होती जाती है, पर ऐसा नहीं लगता कि जिनके हाथ में शासन की बागडोर है वे इस विषय में कुछ भी चिंतित हों। ऐसा क्यों है? इस पर कोई निर्णय देने से पहले यह समझ लिया जाय कि उनकी मांग क्या है,

और वह कितनी उचित या कितनी अनुचित है। क्या वे कोई ऐसी मांग कर रहे हैं जो संविधान के विरुद्ध है?

१८ जनवरी १९६८ को संसद के दोनों सदनों ने यह संकल्प किया था कि लोक सेवा आयोग की परीक्षाओं में से अंग्रेज़ी की अनिवार्यता को समाप्त किया जायेगा। आयोग की ओर से उच्च स्तर की ११४ परीक्षाएं ली जाती हैं। इनमें से केवल सिविल सेवा की परीक्षाओं में भारतीय भाषाओं का विकल्प है, लेकिन वहां भी अंग्रेज़ी अनिवार्य है। इसके अलावा आई.आई.टी. की प्रवेश परीक्षा, एम.टैक और ए.एम. आई.आई. आदि सभी परीक्षाओं में भारतीय भाषाओं का विकल्प स्वीकार किया जा चुका है। अनशनकारी अंग्रेज़ी को हटाने की या उसका स्थान हिन्दी को दिये जाने की मांग नहीं कर रहे हैं। उनका अनुरोध केवल अंग्रेज़ी की अनिवार्यता हटाने का है। उसका भी कारण क्या है?

उसका कारण यह है कि माध्यमिक स्तर तक के ६३ प्रतिशत स्कूल भारतीय भाषाओं के माध्यम वाले स्कूल हैं। इन स्कूलों से पढ़कर आने वाले छात्र कालेज के जीवन में भी भारतीय भाषाओं को ही अपना आधार बनाते हैं। देश की सबसे ऊंची परीक्षाओं में वे केवल इसलिए शामिल नहीं हो पाते क्योंकि उनमें भारतीय भाषाओं के लिए विकल्प नहीं है। परन्तु पिछले १० साल से अर्थात् सन् १९७६ से, सिविल सेवाओं की परीक्षाओं में भी आयोग बाकायदा भारतीय भाषाओं में परीक्षा ले रहा है। परन्तु अंग्रेज़ी की अनिवार्यता बदस्तूर जारी है। अंग्रेज़ी की यह अनिवार्यता उन ६३ प्रतिशत स्कूलों के छात्रों के भविष्य पर ताला लगा देती है। अब ज़रा केन्द्रीय मंत्रियों के बयानों की द्वैधता देखिये। आकाशवाणी से अपने एक इन्टरव्यू में शिक्षामंत्री महोदय कहते हैं कि अंग्रेज़ी की अनिवार्यता कहीं है ही नहीं तो उसे हटाने का सवाल कहां उठता है? परन्तु गृह-राज्यमंत्री पी. चिदम्बरम् ने संसद में प्रश्नों का उत्तर देते हुए कहा है कि लोक सेवा आयोग की परीक्षाओं में भारतीय भाषाओं की छूट देने से उसकी गोपनीयता भंग होगी। दूसरा बहाना उन्होंने यह बनाया कि भारतीय भाषाओं के विशेषज्ञ नहीं मिलते, इसलिए भारतीय भाषाओं को लागू करना व्यावहारिक दृष्टि से संगत नहीं है। केन्द्रीय शिक्षा मंत्री कुछ कहें और गृह राज्य मंत्री कुछ कहें, यह कैसी अटपटी बात है। इसका सीधा यह मतलब है कि इन दोनों महानुभावों में से किसी को भी सही स्थिति की जानकारी नहीं है, या वे जानबूझ कर जनता को धोखे में रखना चाहते हैं।

सितम्बर १९८८ में विश्व विद्यालय अनुदान आयोग के पूर्व अध्यक्ष प्रो० सतीश चन्द्र की अध्यक्षता में लोक सेवा आयोग की जिन परीक्षाओं में भारतीय भाषाओं का विकल्प नहीं है उन पर, और अंग्रेज़ी की अनिवार्यता को हटाने के प्रश्न पर विचार करने के लिए एक कमेटी बनी थी। भारतीय-भाषा-संरक्षण-संगठन के

नेताओं ने कमेटी की पहली बैठक में ही अपना ज्ञापन दे दिया था। इस कमेटी को इसी १२ अप्रैल तक अपनी रिपोर्ट देनी थी, परन्तु अब केन्द्रीय मंत्री महोदय के सांसदों को दिये गये उत्तर के अनुसार उस कमेटी की अवधि १२ सितम्बर तक के लिए बढ़ा दी गई है। इस अवधि बढ़ाने के पीछे क्या मंशा है?

जहां तक भारतीय भाषाओं को छूट देने से गोपनीयता भंग होने और विशेषज्ञ न मिलने का बहाना है, वह कितना लचर है, यह इसी से स्पष्ट है कि केवल सिविल परीक्षाओं को छोड़कर बाकी परीक्षाओं में भारतीय भाषाओं का विकल्प लागू है। पहले सतीश चन्द्र कमेटी के अधिकारी भी शेष परीक्षाओं में भारतीय भाषाओं के विकल्प के औचित्य से सहमत नहीं थे, परन्तु जब उन्हें बार-बार यह बताया गया कि यह कोई नई मांग नहीं है, बल्कि संसद के दोनों सदनों का संकल्प है, तो उनके सामने भी मांग को अनुचित ठहराने का कोई कारण नहीं बचा।

एक तरफ मंत्री महोदय भारतीय भाषाओं के विकल्प की मांग करने वाले सत्याग्रहियों को आश्वासन देते हैं, और दूसरी ओर संसद में जनता को धोखे में डालने वाले बयान देते हैं। परिणाम यह है कि इस आन्दोलन का अभी तक कोई परिणाम नहीं निकल पाया। इतना ही नहीं, सरकार की ओर से इन आन्दोलनकारियों को जिस तरह परेशान किया गया है, वह भी समझ में न आने वाली बात है। १३ फरवरी १९८६ से २० फरवरी १९८६ तक सत्याग्रह करने वालों को सात बार गिरफ्तार करके थाने ले जाया गया, परन्तु अधिकृत रूप से एक बार भी उनकी गिरफ्तारी नहीं दिखाई गई। उनका सब सामान अभी तक थाने में ही है। पुलिस वाले यही कहते हैं कि जब तक सत्याग्रह बंद नहीं करोगे, तब तक सामान नहीं मिलेगा। पहले-पहल गिरफ्तारी तब की गई थी जब पूर्व राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह ने स्वयं सत्याग्रहस्थल पर उपस्थित होकर सत्याग्रहियों की मांग का समर्थन किया था। उसके दो घण्टे बाद ही सत्याग्रहियों को गिरफ्तार कर लिया गया। शायद पुलिस को लगा होगा कि पूर्व-राष्ट्रपति के इस कदम से सत्याग्रहियों के जन-समर्थन की बाढ़ आ जाएगी।

जब इन सत्याग्रहियों ने सुप्रीम कोर्ट के मुख्य न्यायाधीश को पुलिस की ज़्यादती की शिकायत की, तो सुप्रीम कोर्ट ने पुलिस कमिश्नर से जवाब-तलब किया, और सत्याग्रहियों को इस तरह परेशान करने का कारण पूछा। इससे सत्याग्रहियों का हौसला बढ़ा। परन्तु उनकी असली शिकायत केन्द्रीय नेताओं से थी। इसलिए उन्होंने लोक-सभा के अध्यक्ष श्री बलराम जाखड़, राज्य-सभा के सभापति और उपराष्ट्रपति डा० शंकर दयाल शर्मा और केन्द्रीय शिक्षा मंत्री श्री ललितेश्वर प्रसाद साही से मिलकर अपनी बात समझाई। उन्होंने राष्ट्रपति, प्रधान मंत्री, गृह मंत्री को पत्र लिखे। १७ दिसम्बर १९८८ को संसद के दोनों सदनों के १७५ सांसदों

ने प्रधान मंत्री को इस विषय में ज्ञापन दिया। इसके अलावा इस सारे सत्याग्रह के दौरान हुए संसद के तीनों सत्रों में अनेक सांसदों ने इस बारे में सवाल पूछे। प्रमुख छात्र-संगठनों, राजनीतिक दलों और सामाजिक संगठनों ने सत्याग्रहियों की मांग का समर्थन किया, परन्तु पतनाला वहीं का वहीं है।

पिछले आठ महीने से वे सत्याग्रह कर रहे हैं। अनेक केन्द्रीय अधिकारियों ने भी उन्हें आश्वासन दिया। पुलिस ने उनका तम्बू उखाड़ दिया। भयंकर सर्दी की रातें उन्होंने ठिठुरते हुए बिना कम्बलों के बिताई। उनको बार-बार गिरफ्तार किया गया। उनका सारा सामान ज़ब्त कर लिया। परन्तु उन्होंने हार नहीं मानी। अगर हार मान ले तो सत्याग्रही कैसा? अन्त में सब तरफ से निराश होकर उन्होंने आमरण अनशन करने का निश्चय किया। अब संसद का यह सत्र भी समाप्त होने वाला है। परन्तु सरकार की चेतना नहीं जागी। यदि भारतीय अस्मिता के इन प्रहरियों की उचित मांग नहीं मानी गई, और उनको अपने प्राणों की बलि देनी पड़ी, तब देश में कैसी विस्फोटक स्थिति पैदा हो सकती है, क्या सरकार ने यह भी कभी सोचा है? समय रहते चेतावनी देना हमारा काम है।

१४ मई १९८६



क्षितीश जी का यह चिन्तन तात्कालिक या सद्यः-प्रसूत नहीं होता था। प्रत्युत वह उनके गंभीर अध्ययन-अन्वेषण और मनन की एक सुदीर्घ प्रक्रिया का परिणाम था। उनके चिन्तन का परवान कैसे चढ़ा है, और उसे कैसे दिशा मिली, इस बारे में उन्होंने स्वयं लिखा है—

“गांधी ने मेरे हृदय को और महर्षि दयानन्द ने मेरी बुद्धि को परिष्कार दिया। गांधी जी ने सहिष्णुता और महर्षि ने तर्कणा, शास्त्रों के मर्म को समझने की कुंजी, निर्भीकता और विचारों की दृढ़ता दी। गुरुकुल की शिक्षा ने संयम, सादगी, सात्विक जीवन का अनुराग और धन-वैभव के प्रति वितृष्णा प्रदान की। उपदेशकी ने अपने विचारों को जनग्राह्य ढंग से कहने की क्षमता दी और पत्रकारिता ने राजनीतिक विश्लेषण की समझ तथा वह कला दी जिससे अपने खरेपन में खारेपन से बचा जा सके।”

—‘चयनिका’, पृष्ठ ६

सुभाषित

लोकानन्दन चन्दन-द्रुम सखे! नास्मिन् वने स्थीयतां

दुर्वशैः परुषैरसारहृदयैराक्रान्तमेतद् वनम्।

ते ह्यन्योन्यं निर्घर्षजातदहन-ज्वालावली-संकुला

न स्वान्येव कुलानि केवलमिदं सर्वं दहेयुर्वनम्॥

हे जन जन को आनन्दित करने वाले मित्र चन्दन वृक्ष! अब तू इस वन में मत ठहर, क्योंकि अब यह वन कटोर, सारहीन तथा दुष्कुलीन वृक्षों से भर गया है! ये सारे पेड़ तो आपसी संघर्ष से पैदा होने वाली दावाग्नि से न केवल अपने कुलों को, प्रत्युत सारे के सारे जंगल को ही जलाकर राख कर देंगे।

क्या हिन्दी थोपी जा रही है?

हिन्दी को उसके उचित स्थान से वंचित करने के लिए कभी-कभी देश के कुछ निहित-स्वार्थ-वर्गों में किसी न किसी बहाने से यह आवाज़ उठाई जाती है कि हिन्दी को सारे देश पर थोपा जा रहा है। ये कौन लोग हैं? ये वे लोग हैं जो अपने आप को प्रगतिवादी, लोकतन्त्रवादी और राष्ट्रवादी कहते हैं, जबकि इनके मन में इन तीनों विशेषणों में से किसी के प्रति कोई आदर की भावना नहीं है। इनका सारा प्रगतिवाद, लोकतन्त्रवाद और राष्ट्रवाद इस बात में निहित है कि किसी तरह हिन्दी-भाषी राज्यों में उर्दू को दूसरी भाषा का दर्जा दिला दिया जाए। यदि बहुसंख्यकों के मत का और उनकी भावनाओं का निरादर करना ही उनकी दृष्टि में लोकतन्त्र है, तो हमें उनसे कुछ नहीं कहना। इसी तरह यदि राष्ट्र में विघटन के बीज बोने को ही वे राष्ट्रवाद कहते हैं, तो उन्हें राष्ट्रवाद की भी कोई ऐसी परिभाषा ढूँढनी पड़ेगी जो आज तक संसार के किसी भी देश में प्रचलित नहीं है। जहां तक प्रगतिवाद का प्रश्न है, वहां भी उर्दू भाषा को आवश्यकता से अधिक अधिकार दिलवाना ही यदि समस्त प्रगतिवाद की निशानी है, तो हमें इन प्रगतिवादियों को यह याद दिलाना होगा कि इसी प्रश्न को लेकर जनवादी लेखक संघ से स्व० राहुल सांकृत्यायन जैसे क्रांतिकारी विचारक और महापंडित ने अपने आप को अलग कर लिया था।

हाल में ही इसी जनवादी लेखक संघ की ओर से गालिब अकादमी में आयोजित एक सम्मेलन में उर्दू को बिहार और उत्तर प्रदेश की दूसरी भाषा बनाने की मांग

करते हुए बड़े-बड़े और विचित्र-विचित्र तर्क दिये गए हैं। सम्मेलन में कहा गया कि हिन्दी लेखकों के नाराज होने के डर से उर्दू को बढ़ावा नहीं दिया जा रहा। परन्तु हिन्दी लेखकों को उर्दू को बढ़ावा देने से एतराज क्यों हो? एतराज उस मनोवृत्ति से है जो अन्ततः पाकिस्तान के रूप में फलीभूत हुई। जब ये लेखक उर्दू भाषा को बढ़ावा देने की बात करते हैं तो उनके मन में उर्दू भाषा नहीं, बल्कि फारसी लिपि का मोह बोल रहा होता है। हमारा कहना यह है कि उर्दू भाषा का जन्म बेशक इसी देश में हुआ, परन्तु उसकी लिपि 'फारसी', एक विदेशी लिपि है, और उसका जन्म भारत में नहीं हुआ। जो लोग भाषा और लिपि को एक ही चीज़ समझते हैं, उनकी बुद्धि की बलिहारी है।

हिन्दी के विद्वान् हमेशा यह कहते रहे हैं कि उर्दू कोई अलग भाषा नहीं, हिन्दी की ही एक शैली—मात्र है। कुछ लोग इस बात को केवल हिन्दी वालों की अहंमन्यता समझते हैं। किन्तु वे इसकी पीछे के प्रबल हेतु को नहीं जानते। किसी भाषा का निर्धारण उसकी क्रियाओं से होता है, संज्ञाओं से नहीं। उदाहरण के लिए, 'मेरा अम्बरेला लाओ'—इस वाक्य में 'अम्बरेला' शब्द अंग्रेजी का होते हुए भी, क्योंकि 'लाओ' क्रिया हिन्दी की है, इसलिए यह सारा वाक्य हिन्दी का ही कहलायेगा। इसी प्रकार यदि उसी भाव को यूँ कहा जाये—'ब्रिंग माई छाता'... इस वाक्य में 'छाता' शब्द हिन्दी का होने पर भी क्योंकि 'ब्रिंग' क्रिया अंग्रेजी की है, इसलिए यह वाक्य अंग्रेजी का कहलाएगा। हिन्दी की जिस शैली में तद्भव और तत्सम शब्दों के साथ संस्कृत से निकले शब्दों का बाहुल्य हो, वह हिन्दी कहलाती है, और जिस भाषा में अरबी फारसी शब्दों का बाहुल्य हो, वह उर्दू कहलाती है। इसीलिए उर्दू या हिन्दी ये दोनों अलग भाषाएं नहीं, बल्कि एक भाषा की दो शैलियां—मात्र हैं। इसी कारण मुस्लिम शासन काल में भी दक्षिण भारत में प्रचलित उर्दू भाषा को 'दक्खिनी हिन्दी' नाम दिया गया था।

हमारा निवेदन है कि इस देश में प्रमुख रूप से बोली जाने वाली भाषा की पहचान के लिए हिन्दी नाम भी मुस्लिम बन्धुओं द्वारा ही दिया गया था। कुछ लोग कहते हैं कि खड़ी बोली को सबसे पहले हिन्दी नाम अमीर खुसरो ने दिया था। हम इस बहस में नहीं पड़ते कि नाम किसने दिया। परन्तु यह निश्चित है कि देश में बहु-प्रचलित भाषा को हिन्दी का नाम मुस्लिम शासन काल में ही दिया गया।

आप पूछेंगे कि उर्दू नाम कहां से आया। इसका उत्तर केवल इतना ही है कि उर्दू का अर्थ है—'लश्कर'। अर्थात् मुस्लिम शासन काल में उनकी फौज में (उर्दू) हिन्दी और फारसी की मिली-जुली खिचड़ी भाषा बोली जाती थी, उसका नाम उर्दू पड़ गया। जैसे गोरी फौजों में प्रचलित देसीभाषा मिश्रित अंग्रेजी को गोरशाही अंग्रेजी कहा जाता था, उसी तरह मुस्लिम बादशाहों की फौज में फारसी और आम

जनता की बोलचाल की भाषा को मिलाकर जो खिचड़ी भाषा बोली जाती थी, उसका नाम उर्दू पड़ा। इसमें किसी के पक्षपात या दुराग्रह का प्रश्न नहीं है, यह केवल ऐतिहासिक तथ्यों का स्पष्टीकरण—मात्र है। हम जिस बात पर जोर देना चाहते हैं वह यह है कि भाषा और लिपि एक चीज़ नहीं है। इसलिए इन दोनों को एक समझकर किसी विदेशी लिपि (फारसी) को बढ़ावा देने का आग्रह करना सरासर गलत है।

अब प्रगतिवाद की बात लीजिए। अतातुर्क कमालपाशा ने, जिसने तुर्की को प्रगतिवादी राष्ट्र के रूप में ढाला, सबसे पहला काम यह किया कि तुर्की भाषा से अरबी और फारसी शब्दों को निकाल दिया, क्योंकि दोनों उसके देश के लिए विदेशी भाषाएँ थीं। उसने यह भी आग्रह किया कि नमाज़ भी अरबी भाषा में नहीं, तुर्की भाषा में ही पढ़ेंगे। इसका नाम है राष्ट्रवाद, और यही है असली प्रगतिवाद। उर्दू के साथ हम फारसी लिपि को जोड़ने वाले महानुभावों से पूछना चाहते हैं कि सारे यूरोप की भाषाओं की एक लिपि—‘रोमन लिपि’ होने के कारण क्या वे भाषाएँ मर गयीं? क्या देवनागरी लिपि अपनाने के कारण मराठी भाषा नष्ट हो गई? इसी देवनागरी को अपनाने से क्या नेपाली भाषा लुप्त हो गई? आज भी इस देश की जितनी बोलियाँ हैं— चाहे वह राजस्थानी हो, छत्तीस गढ़ी हो, कोंकणी हो, भोजपुरी हो, अवधी हो, मैथिली हो— इनमें से कई बोलियाँ तो प्रान्तीय भाषाओं की तरह समृद्ध हैं, परन्तु देवनागरी लिपि उनके विकास में कभी बाधक नहीं हुई। यदि सिक्खों ने भी पंजाबी भाषा (या बोली) के लिए देवनागरी लिपि स्वीकार कर ली होती, तो खालिस्तान के नारे की गुंजाइश नहीं होती।

नागा लोगों ने अपनी भाषा के लिए रोमन लिपि अपनाई तो पृथक् नागालैण्ड बना। उसी तरह बोडो भाषा के लिए रोमन लिपि अपनाकर बोडोलैण्ड की मांग की जा रही है। जरा कल्पना करिये कि यदि भारत की सब प्रान्तीय बोलियों ने अपनी—अपनी अलग लिपियाँ स्वीकार कर ली होतीं, तो क्या आज भी यह देश और सुगठित हो पाता? यदि उर्दू के पक्षपाती भी फारसी लिपि का मोह छोड़कर देवनागरी लिपि स्वीकार कर लें तो उर्दू भाषा का कितना प्रसार होगा? उसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि जब से उर्दू शायरी की अनेकानेक किताबें और सब बड़े शायरों के काव्यसंग्रह देवनागरी लिपि में अरबी फारसी के कठिन शब्दों के हिन्दी में अर्थ देकर प्रकाशित किये गये हैं, तब से उर्दू—मुशायरों की लोकप्रियता बढ़ी है। आज समस्त भारतीय जनता में उर्दू की गज़लें और गज़ल—गायक जितने लोकप्रिय हैं! क्या इससे पहले इतने लोकप्रिय हुए? निस्संदेह इस लोकप्रियता में देवनागरी लिपि ही कारण है, तथाकथित उर्दू—भक्तों की फारसी लिपि नहीं।

हमें फारसी-लिपि से भी द्वेष नहीं है। वह भारत से बाहर फारस में खूब फले-फूले, हमारी समस्त शुभकामनाएं उसके साथ हैं। परन्तु भारत में उसके लिए आग्रह करना उसी तरह राष्ट्रवाद के लिये घातक है, जिस तरह अंग्रेजी के लिये आग्रह करना। जिस तरह आज अंग्रेजी साम्राज्यवाद के अवशेष के रूप में अंग्रेजी भाषा और रोमन लिपि इस देश की जनता पर जबर्दस्ती थोपी जा रही है, ठीक उसी तरह मुस्लिम साम्राज्य के अवशेष के रूप में तथाकथित प्रगतिवादी लोग उर्दू को और फारसी लिपि को जनता पर थोपना चाहते हैं। थोपी हिन्दी नहीं जा रही है, अंग्रेजी थोपी गई है, और आप उसके साथ उर्दू और फारसी भी थोपना चाहते हैं? भारतीय अस्मिता को आप लोग जीने भी देंगे या नहीं? अपने मन में छिपी सांप्रदायिकता के विष को उर्दू के नाम पर मत उगलिये, नहीं तो राष्ट्र का सारा वातावरण विषैला हो जायेगा। कहां तो सारे राष्ट्र को एकता के सूत्र में बांधने का स्वप्न देखने वाले लोग भारत की सब प्रान्तीय भाषाओं के लिए देवनागरी लिपि अपनाये जाने का सुझाव देते हैं; और कहां जनवादी संघ के ये तथाकथित प्रगतिवादी लोग हैं, जो हिन्दी की ही एक शैली को एक विदेशी लिपि में लिखने का आग्रह करते हैं। सारा संसार देवनागरी लिपि की वैज्ञानिकता को स्वीकार करता है। पर यह फारसी लिपि कितनी वैज्ञानिक है, यह हमसे नहीं, फारसी वालों से ही पूछिये।

२७ अगस्त १९८६



“गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली मैकाले की शिक्षा का करारा उत्तर है। क्षितीश जी को इसी शिक्षा-प्रणाली ने दीप्ति प्रदान की थी, इसीलिए क्षितीश जी को जब भी अवसर मिला, उन्होंने मैकाले द्वारा जारी पश्चिमी शिक्षा का जमकर विरोध किया। अब राष्ट्रीय दृष्टि से चिन्तन करने वाले विद्वान् शिक्षा को जो दिशा देना चाहते हैं, तथा वर्तमान में सत्तारूढ़ भारतीय जनता पार्टी शिक्षा के भारतीयकरण, राष्ट्रीयकरण, आध्यात्मीकरण तथा वेदों और संस्कृत को बढ़ाने का जो विचार दे रही है, उस पर आर्यसमाज प्रारम्भ से ही जोर देता रहा है। क्षितीश जी ने इन्हीं विचारों को निरन्तर अपने लेखों में यत्र-तत्र-सर्वत्र प्रकट किया है।”

-श्री दत्तात्रेय तिवारी (सतीश जी)
(स्नातक, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय)

सुभाषित

कोई भी समझदार व्यक्ति इस बात से इन्कार नहीं करेगा कि पूर्व समय के भारतीय बड़े ज्ञानवान् थे। जितने विविध विषयों पर उन्होंने लिखा है, उस सबसे यह प्रमाणित होता है कि वे विज्ञान-सम्बन्धी सभी बातों से सुपरिचित थे। उन विषयों का जिस ढंग से उन्होंने प्रतिपादन किया है, उससे यह भी सिद्ध होता है कि हिन्दू-पण्डितों को किसी भी पुरानी अन्य जाति के समक्ष विद्या की दृष्टि से झुकने की आवश्यकता नहीं है। उनके दार्शनिक ग्रंथों का और विधि-सम्बन्धी ग्रंथों का ज्यों-ज्यों अध्ययन बढ़ेगा, त्यों-त्यों जिज्ञासुओं को उनकी बुद्धिमत्ता की गहराई का निश्चय होता जाएगा।

—रैवरैंड वार्ड द्वारा लिखित 'एण्टिक्विटी ऑफ हिन्दुस्तान', खण्ड ४ से, अंग्रेजी से अनुदित

इतिहास की गंगा का प्रदूषण

इस भूखण्ड के निवासियों की अपने पर्यावरण के प्रति जो जागरूकता इन पिछले दिनों में उत्पन्न हुई है, उसी का यह परिणाम है कि २२ अप्रैल को सारे संसार में 'पृथ्वी पर्यावरण दिवस' मनाया गया। पर्यावरण के प्रति यह चिन्ता स्वयं मनुष्य जाति में वर्तमान और भावी जीवन की सुरक्षा के लिए अत्यन्त आवश्यक है। वनों, ग्रामों और उन्मुक्त प्राकृतिक वातावरण में बसी छोटी बस्तियों के उजड़ने तथा महानगरीय औद्योगिक संस्कृति के पनपने का परिणाम पर्यावरण पर पड़ना ही था। अभी कुछ वर्ष पहले तक भारत के कलकत्ता और बम्बई जैसे महानगरों की अपेक्षा राजधानी दिल्ली का पर्यावरण काफी ठीक माना जाता था। परन्तु जब से यहां आबादी की संख्या और पेट्रोलचालित वाहनों की संख्या बेतहाशा बढ़ने लगी है, तब से यहां का वातावरण भी लगातार प्रदूषित होता जा रहा है— इस हद तक कि अब दिल्ली के हर निवासी को न चाहते हुए भी कम से कम तीन सिगरेटों जितना प्रदूषित धुआं सांस के द्वारा प्रतिदिन ग्रहण करना ही पड़ता है।

औद्योगिक सभ्यता के विकास के साथ-साथ बड़े-बड़े कारखानों से निकलने वाले विषाक्त उच्छेद ज्यों-ज्यों नदियों में गिरते हैं, त्यों-त्यों उनका पानी भी विषैला होता जाता है। पिछले दिनों गंगा को प्रदूषण-मुक्त करने के लिए काफी बड़ी राशि खर्च करके जो आन्दोलन चलाया गया, उसका यह परिणाम अवश्य हुआ कि वाराणसी, कानपुर और हरिद्वार में गंगा का पानी अब उतना प्रदूषित नहीं रहा।

परन्तु यमुना के प्रदूषण की ओर अभी विशेष ध्यान नहीं दिया गया है, इस बात को दिल्लीवासी बखूबी जानते हैं। कुछ धर्मध्वजियों ने पिछले दिनों यमुना को प्रदूषण—मुक्त करने के लिए कई मन दूध यमुना मैया की धारा में बहाया था। परन्तु मैया के आंचल को प्रदूषण—मुक्त करने का यह कोई तरीका नहीं है। असली तरीका केवल यही है कि गन्दगी का वहां गिरना रोका जाए। बिना उसको रोके दूध बहाने से कुछ होने वाला नहीं।

परन्तु आज हम इस प्रदूषण के बजाय इतिहास की गंगा में प्रदूषण की चर्चा करना चाहते हैं। निहित—स्वार्थ लोगों ने इतिहास की गंगा को जिस सीमा तक प्रदूषित कर दिया है, उसका परिणाम यह है कि सारी वर्तमान पीढ़ी मानसिक दृष्टि से प्रदूषित हो गई है। यह प्रवृत्ति विदेशी शासकों से प्रारम्भ हुई। अंग्रेजों ने जानबूझ कर भारतवासियों को दिमागी गुलाम बनाने के लिये इतिहास में कुछ ऐसी भ्रान्त धारणाएं घुसेड़ दीं जिनका कोई प्रामाणिक आधार नहीं था, जो केवल कपोल—कल्पित थीं। आज देश भर के सब स्कूलों में (आर्य समाजी स्कूलों में भी) इसी प्रदूषित इतिहास की पुस्तकें पढ़ाई जाती हैं। एक ही गलत बात को जब बार—बार दोहराया जाता है, तो उसको सही समझने की धारणा तो पैदा होगी ही। उदाहरण के लिए, हमारे अंग्रेज आकाओं ने हमको पढ़ाया कि आर्य लोग इस देश में बाहर से आये, और उन्होंने यहां के मूल निवासियों को हराकर जंगलों में खदेड़ दिया। इसीलिए भारत के उन जंगली लोगों के लिये 'आदिवासी' शब्द गढ़ा गया, और आज सारे भारत में वही शब्द प्रचलित है। ईरान के लोग तो अपने स्कूलों में पढ़ाते हैं कि आर्य लोग भारत से हमारे देश में आये, और हमारे स्कूलों में पढ़ाया जाता है कि ईरान और मध्य—एशिया से आर्य भारत में आये। कोई उनसे पूछे कि ईरान और मध्य—एशिया में आर्य कहां से आये, तो उसका किसी के पास कोई उत्तर नहीं है।

इसी तरह मोहनजोदड़ो की संस्कृति को अनार्य—संस्कृति कहा गया, और आर्यों द्वारा उसको नष्ट किये जाने की बात कही गई। भारत के प्राचीन लोगों को जंगली और असभ्य सिद्ध करने के लिए न जाने क्या—क्या ऊटपटांग बातें कही गईं! आश्चर्य की बात यही है कि भारतवर्ष में इस इतिहास के सम्बन्ध में फैसला वे लोग करते हैं जो गैर—भारतीय हैं। स्वयं भारतवर्ष के प्राचीन वाङ्मय से, अन्य शास्त्रीय ग्रन्थों से, पुरातत्त्व की खोजों से और भारतीयों द्वारा लिखे गये इतिहास से, उसके बारे में कुछ नहीं पूछा जाता। इसी शिक्षा से दीक्षित अब इतिहासकारों की एक ऐसी पीढ़ी पैदा हो गई है, जो स्वयं भारतीय इतिहास की गंगा को पूरी तरह प्रदूषित करने में लगी हुई है। सबसे अधिक दुःख की बात यह है कि इस समय भारत के भाग्य का निर्णय करने वाले उच्च पदों पर

ऐसे ही महापुरुष आसीन हैं। वे ही प्रामाणिक माने जाते हैं और आम जनता से मनवाये जाते हैं।

एक उदाहरण लीजिए—इसी ५ अप्रैल को ऐतिहासिक अनुसंधान की भारतीय परिषद् के अध्यक्ष, प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता माने जाने वाले प्रो० इरफान हबीब ने राजीव बम्बावाले स्मारक की ओर से “भारत में तकनीकी का इतिहास” विषय पर बोलते हुए कहा कि भारत ने जो उपलब्धियां प्राप्त नहीं की थीं, उनको भी यहां विद्यमान बताने की प्रवृत्ति बहुत गलत है। इस प्रवृत्ति को भी हमें छोड़ना होगा कि जो जहां आदिम युग की बातें प्रचलित हैं, उनको स्मरणातीत काल से चली आती परम्पराओं का अंग मान लिया जाता है। उन्होंने उदाहरण देते हुए कहा कि भारत में चर्खा भले ही स्वदेशी आन्दोलन का प्रतीक रहा हो, परन्तु वह विदेशों का आविष्कार है, और बाहर से आया है। हम अपने अतीत को जो ‘स्वर्ण-युग’ कह कर सम्बोधित करते हैं, वह भी इतिहास के सर्वथा विरुद्ध है। चीनी, यूनानी और रोमन नागरिकों की अपेक्षा हमारे देश के ज्ञान की प्यास नगण्य थी। इसीलिए यहां तकनीक का विकास नहीं हुआ। और तो और, पहिया, हल और बैलगाड़ी भी इस देश में बाहर से आये हैं। उन्होंने यह भी कहा कि विदेशी आक्रमणकारियों ने भारत में विजय प्राप्त करके यहां तकनीकी के विकास में अभूतपूर्व सहयोग प्रदान किया। उदाहरण के लिए सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया तो भूमध्य-सागरीय देशों की तकनीक भारत में आयी, और जब मोहम्मद गौरी ने भारत को पराजित किया तो यहां रहट (पर्शियन व्हील) और सूत कातने वाला चर्खा भी यहां आया। इसके साथ ही कागज बनाने, गुम्बद तथा मेहराब बनाने और रेशम के कीड़े पालने की तकनीक यहां आयी।

इतिहास के विद्वान् माने जाने वाले इन प्रोफेसर साहब को यह बताने की आवश्यकता नहीं थी कि भारत में सिकन्दर का आक्रमण ईसा से लगभग साढ़े तीन सौ वर्ष पहले हुआ था, और मोहम्मद गौरी का आक्रमण १२०० ई० के आसपास हुआ था। उससे पहले भारत का विस्तृत प्राचीन साहित्य है, जिसमें पहिये का वर्णन भी है, हल का वर्णन भी है, बैलगाड़ी का वर्णन भी है और कपास का वर्णन भी है। विदेशी लोग तो इस बात पर चकित होते थे कि भारत में एक ऐसा पौधा होता है, जिस पर कपास जैसी चीज होती है। बिना देखे उनको विश्वास ही नहीं होता था। यदि प्रोफेसर साहब ने भारत के प्राचीन ग्रंथों का कुछ भी अध्ययन किया होता तो उनको यह कहने की हिम्मत नहीं होती कि भारत में पहिया विदेशों से आया है।

क्या वेद में रथ का वर्णन नहीं है? क्या रथ बिना पहिये के बनता है? क्या वेद सिकन्दर से पहले विद्यमान नहीं थे? इतना ही क्यों, वेद में तो जलपोत और विमान

का तथा अन्य अनेक ऐसे आविष्कारों का वर्णन भी है जो अभी तक संसार में विद्यमान नहीं हैं। क्या श्रीकृष्ण चक्रधारी नहीं थे? उनके बड़े भाई बलराम को क्या हलधर नहीं कहा जाता? क्या वे सिकन्दर के बाद पैदा हुए हैं। और जिस रहट (पर्शियन स्टील) की बात वह करते हैं कि मोहम्मद गौरी के साथ वह इस देश में आया, क्या 'हितोपदेश' और 'पंचतंत्र' में 'अरघट्ट' का वर्णन नहीं आता? अरघट्ट रहट नहीं तो और क्या है? क्या हितोपदेश और 'पंचतंत्र' मोहम्मद गौरी के बाद लिखे गये हैं? आज तक किसी इतिहासकार ने न तो वेदों को सिकन्दर के बाद निर्मित माना है और न ही 'हितोपदेश' और 'पंचतंत्र' जैसे बहुत बाद के ग्रंथों को भी मोहम्मद गौरी के बाद रचित माना है। जब इस देश में कपास भी थी और चक्र भी था तो चर्खा विदेश से आने की तुल्य समझ में नहीं आती। उलटे विदेश के लोग कपास से परिचित ही नहीं थे, तो वे कातना क्या जानते?

यह ठीक है कि जब विदेशों से सम्पर्क होता है तो आपस में विचारों और तकनीक का लेन-देन भी होता है। विदेशी हमसे कुछ सीखते हैं, कुछ हम विदेशियों से सीखते हैं। हम मिथ्या अहम् की बातों से भारतीय गौरव की कहानियाँ गढ़ने के पक्षधर नहीं हैं। परन्तु इस प्रकार की अनर्गल बातों से भारत की अस्मिता पर होने वाले प्रहार को सहने के पक्षधर भी नहीं हैं। भौतिक गंगा का प्रदूषण शायद करोड़ों रुपये खर्च करके कुछ दूर हो भी जाये, परन्तु इतिहास की गंगा के इस प्रदूषण को दूर करने के लिए पहले हमें ऐसे प्रदूषित दिमागों को साफ करना होगा, जो अपनी मिथ्याधारणाओं के बल पर इतिहास की इस गंगा को निरन्तर प्रदूषित करते चले आ रहे हैं।

२६ अप्रैल १९६०



“जिस राष्ट्रधर्म की ओर हम संकेत करना चाहते हैं, उसका मूल आधार महाभारत और उसके द्वारा प्रतिपादित श्रीकृष्ण का चरित्र ही है। पुराणों ने ‘बोर-जार-शिखामणि’ के रूप में जिस कृष्ण का चित्रण किया है, उसका अनुमोदन महाभारत में कहीं नहीं है। वह केवल पुराणों की लीला है और उसके पीछे व्यक्तिगत वासनाओं की पूर्ति के लिए अवचेतन मन में छिपी मनोग्रन्थियों का काव्यात्मक चोले में विकृत चित्रण मात्र है। यह देश का कितना बड़ा दुर्भाग्य है कि कृष्ण का वह विकृत रूप तो घर-घर में प्रचलित है, और जो महाभारत-वर्णित सही रूप है, जो राष्ट्र के लिए अक्षय प्रेरणा का स्रोत बन सकता है, उसकी चर्चा दुर्लभ है।”

—‘चयनिका’, पृष्ठ २२१

सुभाषित

स्वतंत्रता-स्वर्ग में पिता हे, जगे-जगे देश यह हमारा
अशोक मन हो, उठा हुआ सिर,
स्वतंत्र हो पूर्ण ज्ञान जिसमें
जहां घरों की न भित्तियां ये करें जगत् खण्ड-खण्ड न्यारा।
सदैव ही सत्य के तले से
जहां पिता, शब्द-शब्द निकले
छुए बड़ा हाथ पूर्णता को जहां परिश्रम अथक हमारा।
छिपे भटक कर सुबुद्धि-धारा
न रुढ़ियों के दुरन्त मरु में
विशाल विस्तृत विचार-कृति में लगे जहां धित्त, पा सहारा।
स्वतंत्रता-स्वर्ग में पिता हे, जगे-जगे देश यह हमारा।।

(विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा स्वतंत्र भारत के संबंध में लिखा 'चित्त जेथा भय-
शून्य' गीत। मूल बंगला से स्व० कवि सुधीन्द्र द्वारा अनूदित)

जरा ठहरिये और सोचिए!

स्वर्गीय प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने कभी कहा था कि स्वतंत्रता प्राप्त करते ही हमसे दो बहुत बड़ी गलतियां हुईं। पहली तो यह कि हमने अंग्रेजों द्वारा चलाई गई नौकरशाही को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया; और दूसरी यह कि हमने अंग्रेजों द्वारा चलाई गई शिक्षा-प्रणाली को जैसे का तैसा स्वीकार कर लिया। यह वास्तव में देश की आधुनिक स्थिति के कारणों का एक सही निदान था। इस सटीक निदान को प्रायः सभी शिक्षाशास्त्रियों ने और सभी स्वतंत्र-चेता राष्ट्रवादियों ने अनुभव तो किया है, परन्तु किसी ने इतने खुले रूप से कहने का साहस नहीं किया। नौकरशाही को ज्यों का त्यों स्वीकार करने का परिणाम हमारी वर्तमान प्रशासन-व्यवस्था है, और शिक्षा-नीति को ज्यों का त्यों स्वीकार करने का परिणाम अनैतिक और आपराधिक प्रवृत्ति की ओर अग्रसर हमारी वर्तमान शिक्षित पीढ़ी है। हम जैसा पेड़ बोयेंगे, वैसा ही फल तो मिलेगा।

“बोये पेड़ बबूल के, आम कहां से होय”

शिक्षा—नीति में आमूल परिवर्तन की बात सभी विज्ञान कहते रहे हैं। परन्तु जब प्रधानमंत्री जैसे पद पर आरुढ़ महानुभाव भी इसी बात को दोहराये, तब सोचने को बाध्य होना पड़ता कि वे यह बात किससे कह रहे हैं! देश के शासन की बागडोर जिसके हाथ में है, और संसद में कानून बनाने का साधन जिनके वश में है, वह स्वयं जब केवल “पर—उपदेश” जैसी यह बात कह कर जाये, तब स्वभावतः मन में यही प्रश्न उठता है कि यह परिवर्तन कौन करेगा?

देश में गलत शिक्षा—प्रणाली को जन्म देने का दायित्व मैकाले को दिया जाता है। अब तक जितनी कटु आलोचना इस एक व्यक्ति की हुई है, शायद किसी अन्य अंग्रेज़ की नहीं हुई। पर मैकाले की आलोचना क्यों? वह अपनी दृष्टि से ठीक था। उसके सामने अंग्रेज़ी राज्य को दृढ़ करने का उद्देश्य था। इसलिए वह शिक्षित भारतीयों की एक ऐसी जमात खड़ी कर देना चाहता था, जो अंग्रेज़ों के शासन को चलाने में सहायक हो सके, भले ही क्लर्क के रूप में, भले ही छोटे—मोटे प्रशासनिक अधिकारी के रूप में, भले ही वकील के रूप में और भले ही डाक्टर के रूप में। वह भारतीय साहित्य को अज्ञान और अन्धविश्वास से पूर्ण मानता था। इसी प्रकार जिन लोगों ने हमारी शिक्षा की योजना बनाई उनमें से अधिकांश को हमारे धर्मशास्त्रों के बारे में गहरा अज्ञान था। उन्हें हमारी सभ्यता दोष—पूर्ण लगती थी, और वे उसी को इस देश की अवनति का कारण मानते थे। इसलिए उन्होंने इस देश की उन्नति के नाम पर एक गलत शिक्षा—प्रणाली जारी कर दी।

हमारी वर्तमान शिक्षा—प्रणाली में भारतीय वाङ्मय के प्रति मैकाले वाली ही दृष्टि दिखाई देती है। इसीलिए हमारे शोध—संस्थानों में, विश्वविद्यालयों में और उच्च अध्ययन—केन्द्रों में पाश्चात्य शास्त्रों के पढ़ने पर ही अधिक जोर दिया जाता है। अब अपने धार्मिक अज्ञान को ढकने के लिए धर्म—निरपेक्षता का आवरण चढ़ा दिया गया है, और इस धर्म—निरपेक्षता की मनोवृत्ति ने भारत के प्राचीन शास्त्रों को अस्मृश्य बना दिया है। हमारे विश्वविद्यालयों में आज हमारे प्राध्यापक राजनीति—शास्त्र पढ़ाते हुए बरतानवी संसद के उद्भव और विकास की लम्बी चौड़ी तफ़सील को बघारते तो मिल जायेंगे, पर प्राचीन भारतीय शासन—व्यवस्था क्या थी, गण—राज्यों की परम्परा कैसे विकसित हुई, मनु और विदुर आदि नीतिकारों ने राज्य के संबंध में किन कर्तव्यों और अकर्तव्यों का उल्लेख किया है, और चाणक्य ने किस प्रकार की शासन—पद्धति के द्वारा दैवशाली गुप्त—साम्राज्य का विस्तार किया था, यह बताने में उनकी धिम्धी—सी बंध जाती है। यदि छात्रों को भारतीय शास्त्रों के अनुसार शासन—व्यवस्था की शिक्षा दी जाती, और साथ में पश्चिमी शास्त्रों की भी, तो हमारे छात्र स्वयं अपने विवेक के अनुसार गुण—दोष का विवेचन करते और

यह निर्णय करते कि भारतीय परिस्थितियों में और भारतीय समाज-व्यवस्था में कौन से सिद्धांत श्रेयस्कर रहेंगे।

मैकाले की शिक्षा नीति की आलोचना शिक्षा के भाषा-माध्यम को लेकर भी बहुत की जाती है। मैकाले भारतीय शास्त्रों को बेकार समझता था। इसीलिए छात्रों को उसने यूरोपीय शास्त्र पढ़ाने की प्रथा चलाई, और यूरोपीय शास्त्र क्योंकि भारतीय भाषाओं के माध्यम से नहीं समझे जा सकते, इसलिए उन्हें पढ़ाने के निमित्त अंग्रेजी भाषा का सहारा लिया गया। आज हर एक व्यक्ति यह कहता दिखाई देता है कि हिन्दी या अन्य भारतीय भाषाओं में पश्चिमी विज्ञान को समझाने की क्षमता नहीं है। पर यह बात कोई नहीं कहता कि अंग्रेजी भी तो भारत के प्राचीन शास्त्रों को समझने के लिए सर्वथा अपर्याप्त साधन है। अंग्रेजी भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाने का सबसे बड़ा दुष्परिणाम यह हुआ है कि हमारा तथाकथित शिक्षित वर्ग अपने ही देश की जनता से कट गया है। हमारे ग्रेजुएट गिटपिट करने में शान समझने वाले, अंग्रेजी वेष और अंग्रेजी रहन-सहन में गर्व अनुभव करने वाले, केवल नकलची बनकर रह गये हैं। उनमें न ज्ञान की प्यास है, न मौलिक चिन्तन की शक्ति है। वे केवल किसी अंग्रेज़ के द्वारा कहे गये वाक्य को ही वेद-वाक्य मानकर दोहराते चले जाते हैं। अंग्रेज़ी ने जैसे उनके दिमाग पर ताला जड़ दिया है।

यहीं हमें एक प्रसंग याद आ रहा है। अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द जब हिन्दी साहित्य सम्मेलन की अध्यक्षता करने के लिए भागलपुर जा रहे थे, तो रास्ते में उनकी ब्रिटेन के एक ऐसे अंग्रेज़ से भेंट हुई, जो आई.सी.एस. के विद्यार्थियों का केवल प्रशिक्षक ही नहीं बल्कि उन छात्रों की ट्रेनिंग का डायरेक्टर भी था। उस अंग्रेज़ डायरेक्टर ने कहा—“स्वामी जी! मेरे पास इण्डियन सिविल सर्विस (आई.सी.एस.) में पढ़ने के लिए जितने भारतीय छात्र आते हैं, मैं देखता हूँ, कि वे सब बड़े बुद्धिमान्, बड़े परिश्रमी और बड़े लगन वाले होते हैं। परन्तु उनमें से किसी में भी मैं विचारों की मौलिकता नहीं पाता। इसका कारण क्या है?” स्वामी जी ने कहा—“मान्यवर महोदय! यदि आप मेरे साथ गुरुकुल कांगड़ी चलें तो मैं आप को इसका कारण बताऊँ। यदि वहां चलने में आप असमर्थ हों तो सुनिए। संक्षेप में उसका कारण यह है कि जब तक विदेशी भाषा के माध्यम से शिक्षा दी जाती रहेगी तब तक भारतीय छात्रों में कभी मौलिकता आ ही नहीं सकती।”

यही एक गुर है जिसकी ओर हम अपने पाठकों का ध्यान खींचना चाहते हैं। हमें अंग्रेजी से कोई द्वेष नहीं है। किसी भाषा से द्वेष क्यों हो? फिर अंग्रेजी तो केवल हमारे आकाओं की ही नहीं, बल्कि अब तो पिछली डेढ़ दो सदी से हमारी चिर-परिचित भाषा है। यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि अंग्रेज़ी को

शिक्षा का माध्यम बनाने से न तो छात्रों में विचारों की मौलिकता पैदा होगी, न भारतीय संस्कृति के प्रति आस्था पैदा होगी और न ही देश की जनता के प्रति कभी सेवा या दायित्व की भावना पैदा होगी। इसीलिए हमारे आजकल के अंग्रेजी पढ़े लिखे लोगों को धार्मिकता की बात करने वाले साम्प्रदायिक लगते हैं, भारत की प्राचीन संस्कृति की प्रशंसा करने वाले पुनरुत्थानवादी लगते हैं, और देश-जाति पर गर्व करने वाले कट्टरपंथी और दक्कियानूसी लगते हैं। वे देश की जनता पर शासन तो करना चाहते हैं और बड़े सरकारी अफसर बनकर जनता का शोषण भी करना चाहते हैं, परन्तु उनके सामने केवल अपने व्यक्तिगत स्वार्थ, निजी ऐश्वर्य के साधन जुटाने और विलासितापूर्ण जीवन बिताने के सिवाय कोई और लक्ष्य नहीं होता। जिस शिक्षा से अपनी संस्कृति, नैतिकता, धर्म और अपने प्राचीन इतिहास से अलगाव की भावना पैदा होती हो, वह शिक्षा नहीं, कुशिक्षा है। फिर आप उसे कितना ही अर्थकारी कहते चले जाइये, परन्तु वह केवल अनर्थकारी है। उसमें परार्थ का कहीं स्थान नहीं है, नीचे से ऊपर तक निरा स्वार्थ ही स्वार्थ है।

उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री ने अपने राज्य में अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी को महत्व देने का जो आन्दोलन चलाया है, उसके कारण निहित स्वार्थ वाले अंग्रेजी अखबार वालों ने जो हाय-तौबा मचानी शुरू की है, वे समय और समाज के बदलते हुए रूप को नहीं पहचान रहे हैं। आज उत्तर प्रदेश ने ऐसा किया है, कल हरियाणा, मध्य प्रदेश, बिहार, हिमाचल, राजस्थान आदि राज्य भी वैसा करने वाले हैं। तब समुद्र में बूंद के समान ये अंग्रेजी-परस्त लोग कहां जायेंगे, क्या करेंगे? क्या देश के भविष्य को और राष्ट्र की अस्मिता को पहचानने की क्षमता उनमें नहीं है? ज्यों-ज्यों जनता जागेगी, त्यों-त्यों उसमें अपनी भाषाओं की आग्रहपूर्ण आत्म-चेतना आयेगी, और तब अंग्रेजी पर्यावरण से घिरे इन छोटे-छोटे आंग्ल-द्वीपों का क्या होगा? और समुद्र की हहराती और घहराती भयंकर लहरों के सामने ये द्वीप कब तक टिक पायेंगे? यही हमारी चिंता का विषय है। इसीलिए हम कहते हैं जरा ठहरिये, सोचिये और उसके बाद अगला कदम उठाइये।

सुभाषित

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि।
वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि।
बलमसि बलं मयि धेहि।
ओजोऽस्योजो मयि धेहि।
मन्युरसि मन्युं मयि धेहि।
सहोऽसि सहो मयि धेहि।

हे प्रभो! तुम तेजस्वरूप हो, मुझे भी तेजस्वी बनाओ। तुम वीर्यवान् हो, मुझे भी वीर बनाओ। तुम बलधारी हो, मुझे भी बलवान् बनाओ। तुम ओजस्वरूप हो, मुझे भी ओजस्वी बनाओ। तुम मन्युस्वरूप हो, मुझे भी सात्विक क्रोध दो। तुम सहिष्णु हो, मुझे भी सहिष्णु बनाओ।

—गोपालदास गुप्त

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि

चिर—कालीन विवाद है कि मनुष्य परिस्थितियों का दास है, या परिस्थितियों का निर्माता है। दोनों बातें अपनी-अपनी जगह ठीक हैं। पर दोनों में एक महान अन्तर भी है। वह अन्तर यह है कि सामान्य मनुष्य प्रवाह में पड़े तिनके की तरह समय और परिस्थिति की धारा में बहता जाता है, पर महापुरुष वह होता है जो धारा से उलटा चल कर समय को नया मोड़ देता है। इसीलिए कहावत है—

लोग कहते हैं कि बदलता है ज़माना अकसर।

मगर मर्द वो हैं जो ज़माने को बदल देते हैं।।

परन्तु प्रश्न यह है कि क्या ज़माने को सर्वथा बदला जा सकता है? सर्वथा या हमेशा के लिए जमाने को बदलने की शक्ति किसमें होती है? ज़माने की एक रफ्तार होती है जिससे चलना उसकी नियति कहा जा सकता है, पर यही शाश्वत सत्य नहीं है। शाश्वत सत्य यह है कि जमाने में हमेशा ही भली और बुरी दोनों प्रवृत्तियाँ रहती हैं। उन दोनों का संघर्ष भी चलता रहता है। कभी एक प्रवृत्ति हावी हो जाती है और कभी दूसरी। दोनों का समूल नाश कभी नहीं होता दोनों की मात्रा घटती बढ़ती रहती है। परन्तु महत्त्व की बात यह है कि इतिहास में कालजयी वही बनते हैं जो सही प्रवृत्तियों का पक्ष लेते हैं और उसके लिए अपना पूरा जीवन लगा देते

हैं, भले ही ऐसा करते हुए कितने ही कष्ट क्यों न उठाने पड़ें! क्यों न इन्हें अपना बलिदान तक करना पड़े!

इसको दार्शनिक दृष्टि से कहना हो तो यों कहा जा सकता है कि प्रकृति त्रिगुणात्मक होती है—सत्त्व, रज और तम, तीनों उसके गुण हैं। संसार क्योंकि प्रकृति की ही देन है, इसलिए उसमें भी सात्विक, राजसिक और तामसिक प्रवृत्तियों का समावेश रहता है। संसार का अंग होने के कारण मानवमात्र में ये तीनों गुण होते हैं। तामसी प्रवृत्ति उसे पशुता की ओर ले जाती है, सात्विक प्रवृत्ति उसे देवत्व की ओर ले जाती है, और राजसी प्रवृत्ति उसे गतिशील बनाती है। यह गतिशीलता उसे सात्विक और तामसिक दोनों प्रवृत्तियों की ओर जाने की छूट के साथ उग्रता प्रदान करती है। राजसी प्रवृत्ति तमस् की ओर जायेगी तो उग्रता के साथ। और सत्य की ओर जायेगी तो भी उग्रता के साथ, यह उसके स्वभाव का अंग बन जाती है।

संसार का चरित्र भी ऐसा है कि उसमें सदा देवासुर—संग्राम चलता ही रहता है। जब दैवी शक्ति वाले प्रबल हो जाते हैं तो देव विजयी होते हैं, और जब आसुरी शक्ति वाले प्रबल हो जाते हैं तो असुर विजयी हो जाते हैं। यही सृष्टि का क्रम है, यह क्रम चलता रहता है, चलता रहेगा। सृष्टि के इस विकास—क्रम में एक रहस्य और भी छिपा है, और वह यह है कि आसुरी शक्ति में अनायास फैलने का गुण है, और दैवी शक्ति में सिकुड़ने का। इसलिए आसुरी शक्ति को फैलाने के लिए विशेष श्रम की आवश्यकता नहीं होती, परन्तु दैवी शक्ति को फैलाने के लिये श्रम भी चाहिए, साधना भी और साहस भी। वही प्रवाह में पड़े तिनके वाली बात। सामान्य मनुष्य केवल तिनका बन कर रह जाता है, जबकि महापुरुष वह कहलाता है, जो अपने साहस से समय के प्रवाह को मोड़ देता है। इतिहास उन्हीं को स्मरण करता है। सच तो यह है कि संसार ऐसे ही मनस्वी और ऊर्जस्वी पुरुषों के कारण जीने के योग्य बनता है, नहीं तो केवल आसुरी संसार में कौन भला मानस जीना चाहेगा, असुर उस भले मानस को जीने ही क्यों देंगे?

आज की सबसे बड़ी समस्या यह नहीं है कि संसार में भले मानसों की एकदम कमी है। असली समस्या यह है कि संसार भर के भले मानस बिखरे हुए हैं, असंगठित हैं, जब कि तथाकथित आसुरी प्रवृत्ति वाले दुर्जन संगठित हैं। स्वर्ण और मादक द्रव्यों की तस्करी करने वालों के अत्यन्त संगठित अन्तर्राष्ट्रीय गिरोह हैं, मुर्दाफरोशों के अन्तर्राष्ट्रीय गिरोह हैं, गुण्डों और डाकुओं के संगठित गिरोह हैं, राष्ट्र विरोधी, सभाज—द्रोही, अलगाववादी, सम्प्रदायवादी, विघटनकारी आतंकवादियों के संगठित गिरोह हैं। यह कितनी बड़ी विडम्बना है कि शान्तिप्रिय, राष्ट्रवादी, सहिष्णुताप्रिय, भलाई और सत्य के उपासक लोग सर्वथा असंगठित हैं।

वे वर्गों, जातियों, बिरादरियों में बंटे हुए हैं और यह संतोष करके बैठे हैं कि जब संसार के पाप का घड़ा भर जायेगा तो एक दिन स्वयं परमात्मा अवतार लेंगे, और सब दस्युओं का नाश कर देंगे। इस खुशफहमी से बढ़ कर कायरता और कुछ नहीं हो सकती।

‘सत्यमेव जयते’ का सिद्धान्त सही है। ‘यतो धर्मस्ततो जयः’ का सिद्धान्त भी ठीक है। पर जिस सत्य और धर्म के पीछे बल और तेज नहीं है, वह सत्य और धर्म कभी विजयी नहीं होता, वह सदा पराजित होता है। यह सही है कि असत्य के पांव नहीं होते, पर सत्य के उपासक उस असत्य का प्रतिरोध करने के लिये ऐक्यबद्ध तो हों, संगठित तो हों। जिस दिन देवता संगठित हो जाएंगे उस दिन राक्षसों की पराजय अवश्यम्भावी है। पर देवता संगठित हों तो सही!

आज देश विघटन के जिस कगार पर पहुंच गया है, उससे उसे बचाने के लिए ऐसे ही महापुरुषों की आवश्यकता है, जो स्वयं तेजस्वी हों और राष्ट्रवादी भले-मानसों को अपने तेज से इतना चमका दें कि उनकी चकाचौंध के सामने तमस् और असत्य के उपासक ठहर न सकें। इसके लिए आसमान से फरिश्ते उतर कर नहीं आएंगे। तेज और ओज के पुंज स्वामी श्रद्धानंद जैसे महापुरुष ही राष्ट्र को पैदा करने होंगे। सत्यविहीन बल असुरों के पास है, और बलशून्य सत्य देवताओं के पास है। अन्त में, अन्त उसी का होना है जो सत्य का विरोधी है। देवताओं की विजय करनी है तो सत्य को बल-शून्य मत रहने दो, राष्ट्र की आज की समस्याओं का यही समाधान है।

२३ दिसम्बर १९६०



शास्त्रोपस्कृतशब्द-सुन्दर-गिरः शिष्य-प्रदेयागमाः।
 विख्याताः कवयो वसन्ति विषये यस्य प्रभोनिर्धनाः॥
 तज्जाड्यं वसुधाधिपस्य कवयोऽप्यर्थं विनापीश्वराः।
 कुत्स्या स्युः कुपरीक्षका हि मणयो यैरर्घतः पातिताः॥

-भर्तृहरि

“विभिन्न शास्त्रीय विषयों के गहन अध्ययन से जिनकी वाणी सुन्दर बन गई है, और अपने शिष्यों को विद्या-दान करके उनकी जिन्दगी सुधारने में समर्थ हैं, वे विद्वान् शिक्षक यदि किसी राजा के राज्य में आर्थिक दैन्य के शिकार रहते हैं, तो वह राजा की ही जड़ता की निशानी हैं, क्योंकि पण्डित लोग तो उनके बिना भी अपनी विद्या के धनी हैं ही। निन्दा के पात्र तो वे परखने वाले जौहरी हैं जो मणियों का सही मूल्य नहीं आंकते।”

सुभाषित

परं मृत्यो अनुपरेहि पन्थां यत्र को अन्य इतरो देवयानात्।
चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि मा नः प्रजां रीरिषो मोत वीरान्॥

ऋग्वेद

हे मृत्यु! उस देवयान के मार्ग से हट जा, जिस मार्ग से योगी और धर्मात्मा जन जाया करते हैं। तू अन्धी और बहरी तो नहीं है न—तू देखती भी है और सुनती भी है, मैं तुझे ही कह रहा हूँ—हमारे वीरों को मत मार!

बादे-मुर्दन कुछ नहीं, यह फ़लसफ़ा मरदूद है

पहले थोड़ी सी गम्भीर और शास्त्रीय चर्चा कर लें। संसार में दो वर्ग हैं— एक नास्तिकों का, दूसरा आस्तिकों का। दोनों के अपने-अपने तर्क हैं, मान्यताएं हैं। जब तक मानव में बुद्धितत्त्व है, तब तक विचारभेद भी रहेगा ही। यह मानव की ही विशेषता है, अन्य प्राणियों की नहीं—क्योंकि उनमें बुद्धितत्त्व का उतना विकास नहीं हुआ है।

ईश्वर की सत्ता में विश्वास करने वाले को हम आस्तिक कहते हैं, और विश्वास न करने वाले को नास्तिक। परन्तु शास्त्रीय दृष्टि से आस्तिक या नास्तिक का सम्बन्ध ईश्वर की सत्ता से नहीं है। व्याकरण का सूत्र है—‘अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः’—अर्थात् जो ‘अदिष्ट’ में विश्वास करता है, वह आस्तिक, और जो नहीं करता, वह नास्तिक। यह ‘अदिष्ट’ क्या है? कुछ लोग इसे ‘अदृष्ट’ समझते हैं। पर यह उससे भिन्न शब्द है। इस अदिष्ट शब्द के बीस—बाईस अर्थ हैं। उनके विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं। पर अधिकांश विद्वान् इसका अर्थ पुनर्जन्म करते हैं। अर्थात् जो पुनर्जन्म में विश्वास करता है, वह आस्तिक है।

इससे सारा सन्दर्भ ही बदल जाता है। इसमें आस्तिकता और नास्तिकता का विवाद ईश्वर से हट कर पुनर्जन्म पर आ टिकता है। इस दृष्टि से जैन या बौद्ध जैसे सम्प्रदाय—जो ईश्वर (या वेद) पर तो आस्था नहीं रखते, पर कर्मफल पर विश्वास करने के कारण पुनर्जन्म को स्वीकार करते हैं, इसलिए वे आस्तिक हैं। और ईसाइयत या इस्लाम या यहूदी जैसे सामी मत जो ईश्वर पर विश्वास करते हुए भी केवल इसी जन्म को अन्तिम मानते हैं, और पुनर्जन्म को स्वीकार नहीं करते, नास्तिक ठहरते हैं। भारतीय सम्प्रदायों में केवल चार्वाक ही इस प्रकार के नास्तिक

हैं जो न वेदों को मानते हैं, न ईश्वर को, न जीवात्मा को और न पुनर्जन्म को। वे ठीक वैसे ही पक्के नास्तिक हैं जैसे आजकल के तथाकथित प्रगतिवादी, जो विज्ञान की शरण लेकर 'खाओ पीओ मौज उड़ाओ' को अपना आदर्श मानते हैं। वे तो साफ कहते हैं—'भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः?' शरीर जब एक बार राख में बदल गया, तब दुबारा वह कहां से आ सकता है। ईसाई या मुसलमान तो शव को जलाते भी नहीं, दफनाते हैं, और उनका विश्वास है कि जब कयामत का दिन आएगा तो सब अपनी कब्रों से उठेंगे, खुदा के सामने हाज़िर होंगे और पैगम्बर जिनकी सिफारिश कर देंगे, उनको अनन्तकाल के लिए जन्नत में भेज देंगे, बाकियों को दोज़ख में। इसीलिए उनके यहां पैगम्बर पर ईमान लाने का इतना अधिक महत्त्व है कि उसके सामने खुदा पर ईमान भी फीका पड़ जाता है। शायर ने साफ ही तो कहा है—

अल्लाह के पल्ले में वहदत के सिवा क्या है?

लेना है सो ले लेंगे हम अपने मुहम्मद से।।

कुछ लोग हिन्दुओं में भी शव के दाह कर्म के बजाय समाधियां बनाते हैं। पर वे समाधियां प्रायः साधु-सन्तों की, किसी विशेष उद्देश्य के लिए शहीद होने वालों की या अपने सतीत्व की रक्षा के लिए जौहर करने वाली सतियों की बनाते हैं, ताकि उनकी पुण्यतिथि पर एकत्रित होकर उनके आदर्शों से प्रेरणा ली जा सके। पर मुसलमानों में साधु-सन्तों के बजाय बादशाहों और बेगमों के मकबरे बनाने का रिवाज ही अधिक है। ताजमहल, एतमादुद्दौला का मकबरा, हुमायूँ का मकबरा, औरंगजेब का मकबरा—आदि ये सब क्या हैं? उनके धन-ऐश्वर्य-विलास के प्रतीक ही तो हैं। इस्लामी संस्कृति की सर्वश्रेष्ठ कलाकृतियां वे ही हैं, जिनमें ताजमहल तो विश्व प्रसिद्ध है ही।

इसी परम्परा में मिस्र के वे पिरामिड भी गिने जाने चाहिए जिनमें मिस्र के राजा-रानी और उनके दास-दासी सब एक साथ दफना दिए जाते थे। उनकी इकट्टी की हुई धन-दौलत भी और उनके ऊपर संसार के आश्चर्यों में गिने जाने वाले विशाल पिरामिड खड़े कर दिए जाते थे। अब उन पिरामिडों का सोना-चांदी तो डाकू लोग लूट ले गये, पर उनके राजा रानियों के मसाले लगे शव आज भी संग्रहालयों में सुरक्षित हैं।

कहने का भाव यह है कि संसार में आज भी दो वर्ग हैं—एक शवों का अर्थात् मृत्यु का उपासक, और दूसरा जीवन का उपासक। जन्म है तो मृत्यु भी है, और मृत्यु है तो जन्म भी है। दोनों आवश्यक हैं—एक ही सिक्के के दो पहलू। जन्म नहीं, तो मृत्यु भी नहीं। इसी तरह मृत्यु नहीं तो जन्म भी नहीं। महाकवि कालिदास ने इसीलिए कहा—

मरण प्रकृति: शरीरिणां, विकृतिर्जीवनमुच्यते बुधैः।

—मरण तो शरीरधारियों की प्रकृति है—स्वभाव है, जीवन उस प्रकृति की विकृति है। 'विकृति' को विकास अर्थ में न लें, यह दार्शनिक और पारिभाषिक शब्द है। सारी सृष्टि प्रकृति की साम्यावस्था की विकृति का ही तो परिणाम है। परन्तु मृत्यु क्षणभंगुर है, जीवन शाश्वत है। आमलोग ऊपरी बात करते हैं। वे कहते हैं—जीवन क्षणभंगुर है, मृत्यु शाश्वत है। मृत्यु के उपासकों का यह मत अधूरी सोच का परिणाम है। जीवन नहीं, पंचतत्त्व निर्मित यह शरीर रूपी पुतला ही वास्तव में क्षणभंगुर है। जीवन तो शाश्वत है। चैतन्य की एक अविच्छिन्न धारा है, जो सारी सृष्टि को एक निरन्तर प्रवाहित जीवन—यात्रा के सिलसिले से जोड़े रखती है। भारतीय दर्शन की यही शाश्वतता उसे अन्य दर्शनों से श्रेष्ठ सिद्ध करती है।

२३ जून १९६१



“इन्द्र की एक सभा है, इन्द्र उस सभा का अध्यक्ष है, अन्य सब देव उस सभा के सभासद् हैं। इन्द्र देवताओं का राजा है। जहां इन्द्र होगा वहीं उसके सहचारी देव होने चाहिए। अतः यदि 'मैं' इन्द्र है तो शेष सब देव भी इसके आसपास ही होने चाहिए।

सब जानते हैं कि शरीर में पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां और कुछ अन्तरिन्द्रियां हैं। यह 'इन्द्रियां' शब्द स्वयं ही अपना रहस्य खोल देता है। इन्द्रिय का अर्थ है—इन्द्र की शक्ति। ये सारी इन्द्रियां इन्द्र की शक्तियां हैं। यदि कर्मेन्द्रियां और ज्ञानेन्द्रियां तथा अन्तरिन्द्रियां इन्द्र की शक्तियां हैं, तो इन इन्द्रियों में अपनी शक्ति भेजने वाला इन्द्र भी कहीं आसपास ही छिपा होगा। इन्द्रियों का नामकरण 'इन्द्र की शक्ति' होने के कारण ही हुआ है, अतः इन इन्द्रियों का संचालक, अधिष्ठाता और अधिपति जो हो, वही इन्द्र होना चाहिए। वह इन्द्र कहाँ है? वह इन्द्र इसी शरीर के अन्दर होना चाहिए। प्रत्यक्ष प्रमाण है कि देह का जो स्वामी 'मैं' है, वह इन्द्र है और उसी की शक्ति सब इन्द्रियों में फैली हुई है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि आत्मा ही इन्द्र है, और उसी की शक्ति से संचालित होने के कारण इन्द्रियां 'इन्द्रिय' कहलाती हैं।

अब तक के विवरण से यह स्पष्ट हुआ कि आत्मा के रूप में इन्द्र इसी शरीर में निवास करता है। जहां इन्द्र निवास करता है, वही स्वर्ग है, वही अमरावती है, वही नन्दनवन है। इसी अमरावती में देवताओं की सभा जुड़ती है और इन्द्र उस देवसभा की अध्यक्षता तथा संचालन करता है।”

—‘चयनिका’, पृष्ठ ११३

सुभाषित

बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं
यत् प्रैरत नामधेयं दधानाः।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत्
प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः॥

हे वाणियों के स्वामी! जिस आदिम वाणी के मूल से पदार्थों के नाम आदि धारण करते हुए विद्वान् लोग उसका उच्चारण करते हैं, जो सबसे श्रेष्ठ है, जो दोष-रहित है, वह ऋषियों की हृदय-गुहा में छिपी रहती है, और लोक-कल्याण की कामना से प्रकाश में आती है।

शाबाश अरुणाचल!

लगभग १५-१६ वर्ष पहले की बात होगी। उस समय हम प्रसिद्ध राष्ट्रीय दैनिक हिन्दुस्तान में साहित्यिक सम्पादक के रूप में रविवासरीय संस्करण का कार्यभार संभाले हुए थे। एक दिन एक बौद्धभिक्षु मिलने आये—शायद पत्र में छपवाने के लिए कोई लेख लिखकर लाए थे। प्रसंगवश हमने परिचय पूछा तो पता लगा कि अरुणाचल के निवासी हैं, और यहां दिल्ली विश्वविद्यालय में एम०ए० कर रहे हैं। विद्या-प्राप्ति की इतनी लगन कि इतनी दूर से यहां दिल्ली में पढ़ने आये!

पूछा—एम० ए० करके फिर क्या करेंगे? बोले—एम० फिल० और पी० एच० डी० करने का इरादा है। पूछा—उसके बाद क्या करने की सोचते हैं? वे पीत-वस्त्रधारी भिक्षु सहज भाव से बोले—फिर कहीं पढ़ाने-वढ़ाने का काम देखेंगे।

हमने कहा—‘पढ़ाने का काम करने वाले और बहुत लोग मिल जाएंगे। आप तो भिक्षु हैं। आपको कमाने-धमाने की क्या चिन्ता है?’ ‘आगे नाथ न पीछे पगहा’—आपको किसके लिए कमाना है? भिक्षु और साधु को इस देश में भोजन और वस्त्र की कमी नहीं है। आप युवक हैं, आपके पास विद्या का बल भी है। आपको तो समाज-सुधार के काम में अपनी विद्या और शक्ति का प्रयोग करना चाहिए।’ वे हमारे मुंह की ओर देखने लगे। बोले—‘आप क्या कहना चाहते हैं, यह स्पष्ट करके बताइए।’

हमने कहा—देखिए, आपके सारे असम में ईसाई पादरी बुरी तरह छाये हुए हैं। नागालैण्ड और मिज़ोरम को उन्होंने पूरी तरह ईसाइयत का अनुयायी बना लिया है। मेघालय में भी उनका काफी जोर है। शुरु से ही उनका यह प्रयत्न रहा

है कि समस्त असम की पहाड़ियों पर छा जाएं—क्योंकि असम के मैदानों में सन्त शंकरदेव के प्रयत्नों से वैष्णव धर्म के प्रति इतना अनुराग है कि वहां के आबालवृद्ध सब उसी रंग में सराबोर हैं, इसलिए वहां उनकी दाल गलनी सम्भव नहीं! दूसरे, पहाड़ियों की शीतल जलवायु उनके अनुकूल पड़ती है। तीसरे, उन पर्वतीय स्थानों पर दुर्गमता और वन्य-प्रकृति के कारण तथा भौतिक साधनों के अभाव के कारण भारत के अन्य प्रदेशों के लोग वहां नहीं पहुंच पाते। इसलिए पादरियों को मैदान एकदम खाली और खुला मिलता है। धन की उनके पास कमी नहीं होती, क्योंकि समस्त यूरोप और अमरीका की ईसाई-संस्थाएं उनकी सहायता के लिए प्रभूत-मात्रा में धन तथा अन्य जीवनोपयोगी सामग्री उदारतापूर्वक भेजना अपना धार्मिक (किसी हद तक राजनैतिक भी) कर्तव्य समझती हैं। जब से असम के सात विभाग हुए हैं— जो 'सैवन सिस्टर्स' कहलाते हैं (असम, मणिपुर, मेघालय, त्रिपुरा, नागालैण्ड, मिजोरम और अरुणाचल), तब से जहां शेष भारत से प्राकृतिक अलगाव बढ़ा है, वहां ईसाई पादरियों ने भी इस अलगाव को बढ़ाने में बहुत योग दिया है। अब इन पादरियों का सारा जोर नागालैण्ड और मिजोरम में अपना वर्चस्व स्थापित करने के बाद अरुणाचल को 'अपना' बनाने की ओर है। आप इन सब बातों से अपरिचित नहीं होंगे।

वे बोले—ईसाई पादरी तो कहते हैं कि असम, और असम के ये सब पर्वतीय अंचल भारत के भाग कभी रहे ही नहीं।

हमने कहा—कभी की बात तो हम नहीं जानते, पर इतना जानते हैं कि महाभारत के समय से, अर्थात् पिछले पांच हजार सालों से ये सब प्रदेश भारत से जुड़े रहे हैं। हो सकता है ये सीमान्तवर्ती प्रदेश किसी हद तक केन्द्रापसारी (अलगाव की) प्रवृत्ति से युक्त रहे हों। जो जितना केन्द्र के निकट होता है, उतना ही केन्द्रोन्मुख होता है, जो केन्द्र से जितना दूर होता है, वह उतने ही अंश में केन्द्र-विमुखता की ओर प्रवृत्त होता है। यह एक स्वामाविक प्रक्रिया है। पर महाभारतकालीन अद्भुत राजनीतिज्ञ योगिराज श्रीकृष्ण ने अपने बुद्धि-कौशल से इन सीमान्तवर्ती प्रदेशों को केन्द्रोन्मुख बना दिया था। आप पूछेंगे—कैसे? हमारा उत्तर है—रक्त-सम्बन्ध के द्वारा। श्रीकृष्ण ने मणिपुर की राजकुमारी चित्रांगदा से अर्जुन का विवाह कराया, नागालैण्ड की कन्या हिडिम्बा से भीम का—जिसका प्रतीक अभी तक दीमापुर (हिडिम्बापुर) मौजूद है; और स्वयं अपना विवाह रुक्मिणी से किया था—जो अरुणाचल की रहने वाली थी।

बौद्ध-मिक्षु एकदम खिल पड़े, बोले—हां, यह बात तो तुम ठीक कहते हो। अरुणाचल का प्रत्येक निवासी रुक्मिणी को अरुणाचल की कन्या ही मानता है। अभी तक अरुणाचल में उसी की स्मृति में विवाह से पहले कन्या के हरण की परम्परा है, क्योंकि श्रीकृष्ण ने भी रुक्मिणी का हरण किया था। यह औपचारिक रूप से होता है।

उसके बाद कन्या-पक्ष और वर-पक्ष दोनों का समझौता होता है, और वर-वधू का विवाह होता है।

हमने कहा—‘तो भिक्षु महोदय! इतनी विद्या-ग्रहण करने के बाद अपनी जन्म-भूमि के प्रदेश को संभालिए। विधर्मियों के पंजे से अपने देश को बचाइए। यह आपका नैतिक कर्तव्य है। आप नहीं करेंगे, तो अन्य सामान्यजन इस दायित्व को नहीं संभाल सकते। आपको परमात्मा ने यौवन दिया है, विद्या दी है, सामर्थ्य दिया है, आपको सफलता अवश्य मिलेगी।

बौद्धभिक्षु महोदय चले गए। उसके बाद उनसे कभी भेंट नहीं हुई। उनका नाम-धाम भी नहीं मालूम। बात आई गई हो गई। हम भी भूल गए। पर कुछ सालों से यह समाचार सारे देश में अवश्य फैल गया कि अरुणाचल एकमात्र ऐसा राज्य है, जिसने अपने यहां धर्मान्तरण पर और ईसाई-पादरियों के प्रवेश पर प्रतिबन्ध लगा दिया है। तब हमें उन बौद्धभिक्षु महोदय से हुई, भेंट का और उनके साथ हुए वार्तालाप का स्मरण आया।

अब एक और समाचार आया है। वह यह कि अरुणाचल ने अपने यहां संस्कृत को अनिवार्य करने का संकल्प किया है। अरुणाचल यहां भी पहले नम्बर पर रहा। इस बार की श्रावणी पर, जो संस्कृत-दिवस के रूप में भी मनाई जाती है, यह अत्यन्त शुभ समाचार है।

पर अंग्रेजी अखबारों को इस समाचार पर पसीना आ गया है। उन्होंने जिस तरह अरुणाचल द्वारा ईसाई-पादरियों के प्रवेश पर प्रतिबन्ध का विरोध किया था, उसी तरह संस्कृत को अनिवार्य करने का विरोध प्रारम्भ कर दिया है। उनका तो यह सनातन धर्म है। शायद वे सोचते हैं कि संस्कृत को अनिवार्य करने से अंग्रेजी वालों की रोजी-रोटी (जिसे वे ‘ब्रेड एण्ड बटर’ कहना पसन्द करते हैं) छिन जाएगी। पर इन अंग्रेजी अखबार वालों को हम आश्चर्य करना चाहते हैं कि वे निश्चिन्त रहें, भारत सरकार का वरद हस्त उनके सिर पर है। इसीलिए भारत सरकार किसी पर भी हिन्दी और संस्कृत थोपने का यत्न करने को तैयार नहीं, पर अंग्रेजी को सारे देश पर थोपने में उसे कोई अन्याय प्रतीत नहीं होता। सारे देश को आगे ले जाने के लिए संकल्पबद्ध हमारी सरकार अंग्रेजी की नाव पर बैठकर इक्कीसवीं सदी में तो जाना चाहती है, जबकि ‘संस्कृत का राग अलापने वाले ये दकियानूसी लोग देश को हजारों साल पीछे की ओर घसीट रहे हैं।’ भारत सरकार अपने जीते जी ऐसा कभी नहीं होने देगी। इसलिए अंग्रेजी वालों का ‘ब्रेड एण्ड बटर’ सर्वथा सुरक्षित है।

पर हम ‘दकियानूसी लोग’ अरुणाचल को इस पहल के लिए धन्यवाद देना कैसे भूल सकते हैं?

सुभाषित

अष्टवर्षा भवेद् गौरी, नववर्षा च रोहिणी।
दशवर्षा भवेत्-कन्या, तत ऊर्ध्वं रजस्वला॥
माता धैर्यं पिता चैव, ज्येष्ठो भ्राता तथैव च।
त्रयस्ते नरकं यान्ति, दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम्॥

“कन्या आठवें वर्ष में गौरी, नवें वर्ष में रोहिणी, दसवें वर्ष में कन्या और उसके बाद रजस्वला कहलाती है। माता—पिता तथा बड़ा भाई—यदि ये रजस्वला कन्या का दर्शन कर लें तो तीनों नरक में जाते हैं।”

—पाराशरी और शीघ्रबोध

(इस प्रकार के श्लोक इस्लाम के आगमन के बाद पौराणिक पण्डितों ने स्मृतियों में डाल दिये।)

अमीना एक थोड़े ही है

साठ वर्ष का दूल्हा और ग्यारह वर्ष की दुलहिन। दूल्हा—याह्या अल सगीश और दुलहिन अमीना। दूल्हा एक अमीर अरब शेख और अमीना हैदराबाद के एक गरीब मां—बाप की लड़की, जिसकी मर्जी के बिना उसके मां—बाप ने पैसे के प्रलोभन में अपनी मासूम बच्ची को एक चिर—कसाई के साथ बांध दिया। चिर—कसाई इसलिए कि यही शेख एक वर्ष पूर्व शाहिदा नाम की एक महिला से निकाह कर चुका था, और अब उस ३२ वर्षीया शाहिदा को तलाक देकर उसी के पासपोर्ट पर अमीना को अरब ले जाना चाहता था। गनीमत समझो कि विमान—परिचारिका अमृता आहलूवालिया ने विमान में उस बच्ची को जार—जार रोते देखकर पुचकारा और उसका सारा किस्सा जान लिया, और फिर दिल्ली आते ही पुलिस के हवाले कर दिया।

पुलिस ने जब अदालत में केस किया, तो शेख के वकील ने दलील दी कि इस्लामी शरियत के हिसाब से नौ वर्ष की लड़की से निकाह किया जा सकता है, इसलिए शेख ने कोई गलत काम नहीं किया। अब वह अपनी निकाहशुदा बीबी के साथ अपने देश जा रहा है, तो इसमें अनुचित क्या है? सच है गलती शेख की उतनी नहीं, जितनी इस्लामी शरियत की है—जिसने नौ वर्ष की उम्र की लड़की की शादी की अनुमति देकर भयंकर अनाचार को प्रश्रय दिया

है। यह निकाह नहीं, नाबालिक लड़की के साथ बलात्कार का लाइसेंस है। इस लाइसेंस से भविष्य के दुष्परिणाम की कल्पना करके अमीना रोयेगी नहीं, तो क्या करेगी?

अरब के शेखों का बाकायदा यह धन्धा है। वे पैसे का प्रलोभन देकर गरीब मां-बाप को अपनी मासूम बच्चियों को ऐसे कसाइयों के हाथ बेचने के लिए मजबूर कर देते हैं। शेख ने अमीना के मां बाप को एक लाख रु० दिया और ६ हजार रु० मेहर के नाम के। बीच में दलाल ने भी अपनी चांदी काटी ही होगी।

अरब के शेखों का यह धन्धा नया नहीं है। अपनी ऐयाशी के लिए वे जो भी अप्राकृतिक कुकर्म करें, वह कम है। पिछले दिनों समाचार था कि ये शेख 'ऊंटों की दौड़' की अपनी हविश पूरी करने के लिए, उनके पीछे रस्सी से किशोरों को बांध देते थे। ऊंट दौड़ते थे, बच्चे घिसटते हुए रोते-चिल्लाते थे, लहू-लुहान होते थे और शेख खुश होते थे। यह कैसा वहशियाना खेल था! वे बच्चे कहां से आते थे? —राजस्थान के गरीब देहातियों से दलालों की मार्फत सब्जबाग दिखाकर खरीदे जाते थे। पहले उनसे कुकर्म करते, जब मन भर जाता, तो ऊंटों की दौड़ में पीछे बांध कर उन्हें जानवरों की मौत मरने के लिए छोड़ देते। यह कैसी ऐयाशी! बच्चों और बच्चियों की खरीद-फरोख्त का यह कैसा जालिम किस्सा! इस्लाम का यह कैसा धिनौना रूप! भारत के कानून-रक्षकों की यह कैसी अक्षम्य लापरवाही!

पर नहीं, यह किस्सा यहीं समाप्त नहीं होता। इस्लाम के आगमन के बाद इस देश में भी बाल-विवाह की प्रथा चली, और स्वयं हिन्दू पण्डितों ने इस विषय में ऊंट-पटांग व्यवस्था देनी प्रारम्भ कर दी। कहां तो वेद का आदेश था—

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।

(अथर्व ११/३/१८)

अर्थात् "ब्रह्मचर्य धारण कर युवती कन्या युवा पति को प्राप्त करे।" कहां अपनी स्मृतियों में भी कहा जाने लगा —

"यदि रजस्वला कन्या का विवाह न करके उसे माता-पिता और उसका बड़ा भाई—ये तीनों देखें तो नरक में गिरते हैं।" (देखें, ऊपर का सुभाषित)

हम पूछते हैं कि शरियत में और इसमें क्या अन्तर है? अब भी अक्षय तृतीया के दिन सैकड़ों मासूम बच्चे-बच्चियों को विवाह-बन्धन में बांधने को पुण्य कार्य समझने वालों की इस देश कमी नहीं है। यह पाप केवल अनपढ़ और अशिक्षित देहाती ही नहीं करते —मैथिल-ब्राह्मणों का तो यह रिवाज ही है। यदि ये धर्म के ठेकेदार ही 'धर्म' का पालन नहीं करेंगे, तो कौन करेगा? और यह सब होता है

उस सरकार की नाक के नीचे, जिसने न केवल शारदा ऐक्ट पास कर रखा है, बल्कि १८ वर्ष से पहले लड़की की और २२ वर्ष से पहले लड़के की शादी को कानूनन वर्जित कर रखा है। हमने आज तक तो इस कानून के अन्तर्गत किसी को सजा होते सुनी नहीं।

इस स्थिति के लिए कानून के रक्षक तो दोषी हैं ही, पर ऐसी सामाजिक मूढ़ मान्यताओं के निराकरण के लिए समाज-सुधारक संस्थाओं को आगे क्यों नहीं आना चाहिए? इन समाज-सुधारकों में सबसे अग्रणी है आर्यसमाज। उसके कार्यकर्ताओं को यह बीड़ा उठाना चाहिए। यही बात हम प्रगतिशील, समझदार, शिक्षित मुस्लिम समाज-सुधारकों से भी कहना चाहते हैं कि अपने समाज को कठमुल्ले मुल्ला-मौलवियों के शिकंजे से निकालो। मुस्लिम-समाज को भी प्रगति की दौड़ में पिछड़ने से बचाओ। जब शाहबानो केस में उच्चतम न्यायालय के निर्णय को पलट कर भारत सरकार मुल्ला-मौलवियों के दबाव के आगे झुक गई थी, जब आरिफ मुहम्मद खान ने तो केन्द्रीय मंत्री-पद से त्यागपत्र देकर साहस का परिचय दिया था, यदि उसी समय इन प्रगतिशील मुस्लिम-युवाओं ने भी उनका साथ दिया होता, तो वे इस्लामी शरियत के इस प्रकार के अमानवीय कलंक से मुसलमानों को बचा सकते थे।

ऐसी अमीना एक ही नहीं है—न जाने कितनी हैं! उनको बचा सकते हो, तो बचा लो। नहीं तो अरब के ये शेख अपने धन के बल पर अपनी इस कसाई वहशियत से बाज नहीं आएंगे।

रहीम की कृष्ण भक्ति

अकबर के संरक्षक बैरमखां के सुपुत्र अब्दुरहीम खानखाना अलवर की एक राजपूत कन्या की कोख से जन्मे थे। वे न केवल अकबर के नवरत्नों में से एक थे, वीर बहादुर सिपहसालार थे, दानवीर थे; प्रत्युत अनेक भाषाओं के पण्डित भी थे। हिन्दी में रहीम के दोहे तो साहित्य की अमूल्य निधि हैं ही; किन्तु पाठकों को आश्चर्य हो सकता है कि उन्होंने संस्कृत में 'खेट-कौतुकम्' नामक एक ज्योतिष का ग्रन्थ भी लिखा था, जिसमें फारसी, अरबी और ब्रजभाषा तथा अवधी के शब्दों का भी प्रयोग किया था। रामचरितमानस के अमर रचनाकार महाकवि सन्त तुलसीदास और तत्कालीन प्रसिद्ध स्वाभिमानी कवि गंग से भी उनकी मित्रता थी। उनके संस्कृत में लिखे राम और कृष्ण की भक्ति के भी कुछ पद मिलते हैं, जो काव्य-प्रतिभा के अलावा इन महापुरुषों के प्रति उनकी अगाध भक्ति के भी परिचायक हैं। कृष्ण-जन्माष्टमी के अवसर पर हम यहां उनके कृष्णभक्ति के दो संस्कृत श्लोक देते हैं। सुधी साहित्यिक जन उनका रसास्वादन करें।

रत्नाकरस्तव गृहं गृहिणी च पद्मा
किं देयमस्ति भवते जगदीश्वराय।
राधा-गृहीतमनसे हृतमानसाय
दत्तं मया निजमनस्तदिदं गृहाण॥

—रत्नों का आगार समुद्र आपका निवास स्थान है, लक्ष्मी आपकी गृहिणी है, स्वयं आप संसार के अधीश्वर हैं। मैं आपको भला क्या दे सकता हूँ? पर हाँ, मेरे पास एक चीज़ है जो आपके पास नहीं है। राधा ने आपका मन चुरा लिया है? इसलिए अब आप बिना मन के रह गए हैं। इसलिए मैं अपना मन ही आपको भेंट करता हूँ, कृपया स्वीकार कीजिए।

क्षीरसारमपहृत्य शंकया स्वीकृतं यदि पलायनं त्वया।
मानसे मम नितान्ततामसे नन्दनन्दन कुतो न लीयसे॥

—हे माखन चोर! मक्खन चुराकर मां मारेगी इस डर से तुम भाग कर कहीं ऐसी जगह छिपना चाहते थे जहाँ मां की दृष्टि न पड़े। क्षीर-सागर तो उसका परिचित है, पकड़े जाओगे! उसे तो छोड़ो, ऐसी जगह मैं बताता हूँ। यह स्थान है—मेरा मन, जहाँ तमोगुण का नितान्त अन्धकार है। हे नन्दनन्दन! तुम इसमें आकर क्यों नहीं छिप जाते?

क्या इन श्लोकों की भाव-प्रवणता को कभी आप भूल सकते हैं?

१ सितम्बर १९६१



रत्नों की जो खान वही घर, सागर-क्षीर बनाया।
धन-वैभव वर्षाने वाली, लक्ष्मी जिसकी जाया।
जड़-चेतन ब्रह्माण्ड-विश्व के, एक तुम्हीं जगदीश्वर।
हम तो याचक द्वार तुम्हारे, क्या दें तुम को माया?
माखन चोर कन्हैया! सबका चित्त चुराने वाले!
राधा ने मन चुरा लिया, सो हुए बिना-मन-वाले।
मेरा मन भी चुरा रहे हो, चलो चुरा लो प्यारे!
हुआ आज से यही तुम्हारा, ओ सबके रखवाले!!

भारत के भूकम्प

भारत में १८वीं शताब्दी के बाद आये भूकम्पों का ब्यौरा इस तरह है :—

१ सितम्बर १८०३ : मथुरा में, भूकम्प के झटके कलकत्ता तक महसूस किये गये।

१८०३ : कुमायूँ क्षेत्र में, दो सौ से तीन सौ व्यक्ति मरे।

१६ जून १८१६ : कच्छ (गुजरात)

६ जून, १८२८ : श्रीनगर के निकट, एक हजार व्यक्ति मरे।

१० जनवरी १८६६ : कछार (असम) के निकट, ढाई लाख वर्ग मील के क्षेत्र में भूकम्प का असर।

३० मई १८८५ : श्रीनगर के निकट।

१२ जून १८८५ : शिलांग पठार, गोरपासा, गुवाहाटी, नोगोंग और सिल्चर में भारी नुकसान।

४ अप्रैल १९०५ : कांगड़ा (हिमाचल प्रदेश) हजारों व्यक्ति मरे।

१५ जुलाई १९२० : दिल्ली के निकट।

२ जुलाई १९३० : दुबरी (असम) कूच बिहार, लालमुनिरहाट, और रंगपुर में भारी नुकसान।

१५ जुलाई १९३४ : बिहार-नेपाल सीमा, मोतिहारी, दरभंगा, पटना और काठमांडू (नेपाल) में भारी नुकसान।

सन् १८३५ : क्वेटा (बिलोचिस्तान) में भारी तबाही।

१४ मार्च १९३८ : मध्यप्रदेश में।

२६ जून १९४१ : अंडमान के निकट।

१५ अगस्त १९५० : असम, सात मिनट तक।

१६ जनवरी १९६५ : हिमाचल प्रदेश के किन्नौर और लाहौल स्पीति के कुछ इलाकों में।

१० सितम्बर १९६७ : महाराष्ट्र में।

१३ अप्रैल १९६६ : मद्राचलम् में।

२१ अगस्त १९८८ : बिहार और नेपाल में, कम से कम नौ सौ मरे।

गढ़वाल में भूकम्प

बाढ़ और भूकम्प प्राकृतिक आपदाएं हैं। बाढ़ तो प्रायः हर वर्ष ही आती है, पर भूकम्प कभी-कभी। इन प्राकृतिक आपदाओं से धन-जन की हानि भी कम नहीं होती। पर मनुष्य का कुछ ऐसा स्वभाव है कि जब ऐसी प्राकृतिक आपदा आती है तो एकबारगी सारा देश दहल जाता है। आपदाग्रस्त इलाके में हाय-तौबा मच जाती है, और चारों तरफ से स्वयंसेवी संस्थाएं और सरकारें सहायता के लिए दौड़धूप करती हैं। मनुष्य की जिजीविषा इतनी प्रबल है कि वह इन प्राकृतिक

आपदाओं से संघर्ष करता है—कहीं विजय पाता है, कहीं हारता है, पर उसकी जिजीविषा नष्ट नहीं होती। प्राकृतिक आपदाओं की भीषणता के सामने मानव के समस्त रक्षा—प्रयत्न हार जाते हैं, पर मानव हार नहीं मानता। वह फिर उठकर खड़ा हो जाता है। कुछ अर्से बाद जब उस प्राकृतिक आपदा का प्रकोप और भीषणता समाप्त हो जाती है, तो सब लोग उसे भूल जाते हैं, और फिर इस तरह अपनी दिनचर्या में पूर्ववत् लीन हो जाते हैं—जैसे कभी कुछ हुआ ही नहीं था।

इन प्राकृतिक आपदाओं को टाला नहीं जा सकता, क्योंकि उन पर मानव का नियन्त्रण नहीं है पर उनसे कुछ शिक्षा अवश्य ली जा सकती है। वह यह कि भविष्य में यदि ऐसी आपदा आये तो उससे होने वाले विनाश को कम से कम करने का पूर्वप्रयत्न किया जा सकता है। हम भारतीयों में वह प्रवृत्ति नहीं है। जापान एक भूकम्प—प्रवण क्षेत्र है। वहां के निवासियों ने ऐसे मकान बनाने का तरीका निकाल लिया है, जिससे भूकम्प आने पर वे धराशायी न हों, और हानि कम से कम हो। पर भारत न तो बाढ़ों को रोकने की कोई दूरगामी योजना बनाता है, न ही भूकम्पों से होने वाले विनाश को कम करने का कोई उपाय करता है। भूकम्परोधी मकान बनाने की प्रथा भी यहां नहीं है, जिससे बरबादी और बढ़ जाती है।

इन प्राकृतिक आपदाओं से विनाश की चिंता तब और बढ़ जाती है जब उनको लाने में स्वयं मनुष्य भी एक कारण बन जाता हो। इससे बढ़कर मानव की अदूरदर्शिता की कल्पना नहीं की जा सकती। भौतिक विकास की जो ललक इस युग में पैदा हुई है, और उसकी जो रूपरेखा तैयार हुई है, उससे हम प्राकृतिक आपदाओं को जैसे स्वयं आमन्त्रित करते हैं। इस समय सारे संसार में पर्यावरण को प्रदूषित करके मानव—जाति ने अपने विनाश का जो जाल अपने हाथों से रचा है, उससे उसे बचाना अब वैज्ञानिकों को भी असम्भव लगने लगा है। वे दिनरात इसकी चेतावनी दे रहे हैं, पर भौतिक और औद्योगिक विकास के दीवाने कहां सुनते हैं? विकास चाहिए, भले ही वह विनाश का कारण बने। ऊपर से हमने हज़ारों की संख्या में परमाणु—बम तथा अन्य घातकतम शस्त्रास्त्र तैयार कर लिए हैं—जैसे हमने मानवजाति को अपने हाथों ही नेस्तनाबूद करने का ठेका ले लिया है—मानव जैसे पागल हो गया है :

पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत् ।

—जैसे विकास—मोह की प्रमाद मदिरा पीकर मानव उन्मत्त हो गया है।

अन्य आपदाओं को छोड़ ही दें, और हम केवल बाढ़ और भूकम्प की ही बात करें। बाढ़ें क्यों आती हैं? ऐसा नहीं है कि बाढ़ें पहले नहीं आती थीं, पर अब जिस तरह हर वर्ष उनको पुनरावृत्ति होती है, वैसी शायद पहले नहीं थी।

औद्योगिक विकास के नाम पर वनों और वृक्षों का सफाया हुआ, उससे जल को रोककर सोखने की भूमि की क्षमता कम हुई, भूस्खलन प्रारम्भ हुए, चट्टानें और मिट्टी गिरकर नदियों में आनी प्रारम्भ हुई, इससे नदियों का धरातल ऊंचा हुआ, उनकी जल-संभरण क्षमता कम हुई। इसलिए पहाड़ों में होने वाली भारी बरसात के पानी का बोझ वे नहीं सहार सकीं, और अपने तटों को तोड़कर आसपास की बस्तियों के लिए कहर ढाने लगी। यह सिलसिला अब भी ज्यों का त्यों जारी है। पर्यावरणविद् और मानवजाति के भविष्य की चिन्ता करने वाले वैज्ञानिक चाहे कितना ही आक्रोश प्रकट करें, पर भौतिक विकास को ही देश की सुख-समृद्धि का मापदण्ड मानने वाले इस कान से सुनते हैं, और उस कान से निकालकर फिर उसी धन्धे में जोर-शोर से लग जाते हैं।

रहे भूकम्प —उनको आमन्त्रण भी हम अपने ही कारनामों से देते हैं। बिहार में आये भूकम्प के समय महात्मा गांधी ने कहा था कि यह मनुष्यजाति के पापों का परिणाम है। तब विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने उसका वैज्ञानिक विवेचन करते हुए विरोध किया था। हम महात्मा गांधी की भाषा का प्रयोग करने के अधिकारी तो नहीं हैं — क्योंकि यदि महात्मा गांधी का कथन स्वीकार कर लिया जाए तो यह मानना होगा कि उस समय सन् १९३४ में बिहार के लोग ही सबसे अधिक पापी थे, और बिहार से इतर-प्रान्तों के लोग धर्मात्मा। अन्यथा बिहार में ही भूकम्प क्यों आता? पर हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि इसी विकास के नाम पर हमने भूमिमाता की कोख को खाली करने का ठेका ले लिया है। दिनरात कोयला निकालो, लौह—अयस्क निकालो, पेट्रोल निकालो, ताम्बा निकालो, सोना निकालो और अन्य अनेक धातुएं निकालो — वसुन्धरा की कोख ही तो छीजती है। कोख हरी—भरी नहीं होगी तो माता के स्तनों में दूध कहां से आएगा? तुम दिनरात उसी कोख को शून्य करने में लगे हो।

फिर तुमने बड़े-बड़े कारखानों को औद्योगिक और भौतिक विकास का प्रतीक माना है — जबकि मनुस्मृति जैसे धर्मग्रंथ ने 'महायन्त्रप्रवर्तनम्' को पापकोटि में गिना है, क्योंकि वह लाखों लोगों के श्रम का दोहन करता है। कारखाने बड़े, तो उनके समस्त साजो-सामान और तामझाम भी बड़े, और उतने ही अधिक साधन—स्रोतों के दोहन की बड़ी से बड़ी व्यवस्था। फिर हमने इतने से ही सन्तोष कहां किया? बड़े से बड़े बांध बनाये, बड़े से बड़े जलाशय बनाये, जिनमें नदियों के स्वाभाविक प्रवाहों को रोककर अपार जलराशि एकत्रित की। क्योंकि हमें बिजली की जरूरत है, तो इन बड़े जलाशयों से पनबिजली तैयार होगी, नहरें बनेंगी, जिससे सिंचाई होगी। पैदावार बढ़ाने के लिए नये-नये जंगल साफ करके उन्हें खेतों में बदल

कर सिंचाई की व्यवस्था की। सिंचाई के साथ पैदावार बढ़ाने के लिए रासायनिक खाद भी चाहिए। हमने जल्दी से जल्दी और साल में दो-तीन बार फसलें देने वाली अनाजों की संकर किस्में तैयार कीं। निस्सन्देह, उनसे पैदावार बढ़ी, समृद्धि बढ़ी, भौतिक विकास की शरतें पूरी हुई, इसीलिए हमने इन बड़े-बड़े बांधों और जलाशयों को नये भारत के निर्माण में 'मन्दिरों' की संज्ञा दी। पर हमने यह नहीं सोचा कि हमारे यही नये मन्दिर हमारे लिए मकबरे और कब्रगाह भी बनते जा रहे हैं।

इस सारी प्रक्रिया में मुख्य उद्देश्य किसी न किसी प्रकार प्रकृति पर विजय पाने का रहा है। जब हम इस प्रकार प्रकृति के पीछे हाथ धोकर पड़े हों, तब प्रकृति अपने इस घोर (विरोध-रूप) अपमान और भीषण पराजय को चुपचाप कैसे सहन कर लेगी? अब वह भूकम्प (या बाढ़) जैसी आपदा के रूप में अपना प्राकृतिक प्रकोप प्रकट करती है, और तब आदमी हाहाकार कर उठता है। मानव कहता है मैं बड़ा, प्रकृति कहती है—मैं बड़ी। इस युग का यही सबसे बड़ा संघर्ष है। मानव यह नहीं सोचता कि प्रकृति के साथ बलात्कार तो मैंने किया है, इसलिए प्रकृति को मुझसे बदला लेने का पूरा अधिकार है।

वैदिक ऋषियों और वैदिक जीवन-पद्धति का तरीका इससे भिन्न है। वे प्रकृति पर विजय नहीं, उसके साथ सन्तुलन स्थापित करने को श्रेयस्कर मानते रहे हैं। यज्ञ-विधान की सारी प्रक्रिया प्रकृति से सन्तुलन स्थापित करने की प्रक्रिया ही तो है। अपने आपको प्रकृति के अनुकूल ढालना, और प्रकृति को अपने अनुकूल ढालना—तभी तो सृष्टि में सहृदय सामनस्यम् का आदर्श चरितार्थ होगा। सृष्टि का सामंजस्य बनाये रखने के लिए इसके सिवाय और कोई उपाय नहीं है। वैदिक जीवन में मानव के साथ पशु-पक्षियों और वृक्ष-वनस्पतियों को भी जीने का उतना ही अधिकार है। आधुनिक विज्ञान ने मनुष्य को इतना अभिमानी बना दिया कि वह अपनी तानाशाही में अन्य प्राणियों के जीने की कतई परवाह नहीं करता।

बात हम गढ़वाल के भूकम्प की कर रहे थे, जो आज की तात्कालिक समस्या है, पर हम फिलासफी की बहस में उतर गये। क्या करें, हरेक समस्या के मूल तक पहुँचने के लिए जो विचारों का ज्वार मन में उभरता है, उसका यही परिणाम होता है। गढ़वाल की आपदा केवल गढ़वाल की नहीं है, वह सारे राष्ट्र की जिम्मेदारी है। भूकम्प की ऐसी या इससे भयंकर स्थिति कल दिल्ली या किसी अन्य स्थान पर भी आ सकती है। ऐसी आपदा के समय यदि समस्त राष्ट्रवादी अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार उसके निवारण में योग दें तो, यह उतनी दुःखदायी न बने।

आर्य समाज ऐसी प्राकृतिक आपदाओं के समय कभी मौन धारण नहीं करता। वह तुरन्त गतिशील हो उठता है। यह उसकी जागरूकता है। आर्य प्रादेशिक सभा इस जागरूकता में सदा आगे रही है। उसने भी अपना भूकम्प-सहायता-केन्द्र खोल दिया है, और जिस प्रदेश में और स्वयंसेवी संस्थाएं नहीं पहुंच पातीं, उस प्रदेश के २५-३० गांवों की समस्त जीवनीय आवश्यकताओं को पूरा करने का दायित्व संभाला है। उसके कार्य की प्रगति की सूचना पाठकों को 'आर्यजगत्' के माध्यम से मिलती रहेगी।

१० अक्टूबर १९६१



"आर्य प्रतिनिधि समा, पंजाब के अधिकारी श्री शितीश जी को अपने यहां उपदेशक बनाने के लिए ललायित थे। इसलिए श्री शितीश वेदालंकार ने अपनी आजीविका के लिए आर्यसमाज का उपदेशक बनना स्वीकार किया। शीघ्र ही उनकी गणना उस समय के महोपदेशकों में होने लगी, और आर्यसमाजों की ओर से उनकी मांग प्राथमिकताओं से आने लगी।

पाकिस्तान बनने के बाद वे भारत आकर 'हिन्दुस्तान' दैनिक के उपसम्पादक बने और शीघ्र ही वहां उनका सम्मान बहुत बढ़ गया। कई विशिष्ट स्तम्भों के लेखन का उत्तरदायित्व उन्हें सौंप दिया गया। उनके लेख बड़ी ललक से पढ़े जाते थे। हिन्दुस्तान दैनिक से सेवा निवृत्त होकर, वे 'आर्य-जगत्' के सम्पादक बने।

श्री शितीश जी वेदालंकार के सम्पादक बनने से उसकी बिक्री बीस गुना बढ़ गई। आर्य-समाज के समाचार-पत्रों में 'आर्य-जगत्' मूर्धन्य समाचार-पत्र बन गया, और वस्तुतः आर्यसमाजों की गतिविधियों का प्रेरक और नियंत्रक बन गया। इस पत्र के कारण आर्यसमाज का खूब प्रसार और प्रचार हुआ, तथा श्री शितीशकुमार जी की गणना देश के मूर्धन्य पत्रकारों में होने लगी।

श्री शितीश जी सम्भवतः जन्मजात लेखक थे। गुरुकुल में पढ़ते हुए ही उनकी कई पुस्तकें छप चुकी थीं। अपने विद्यार्थीकाल में उनके निबन्धों की धूम रहती थी। उनकी सबसे अन्तिम पुस्तक 'चयनिका' बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसे ऐसा सन्दर्भ-ग्रन्थ कहा जा सकता है, जिसमें दार्शनिक, राजनैतिक, ऐतिहासिक, इत्यादि विविध क्षेत्रों से सम्बन्ध रखने वाले प्रामाणिक तथा मौलिक लेख हैं। इस पुस्तक को पढ़ने के बाद अपने विषय का विशिष्ट जानकार भी उनकी प्रतिभा का कायल हुए बिना नहीं रह सकेगा।"

—पं० मनोहर विद्यालंकार,
खारी बावली, दिल्ली

